



भट्टारक-श्रीज्ञानभूषणविरचित

तत्त्वज्ञानतरंगिणी

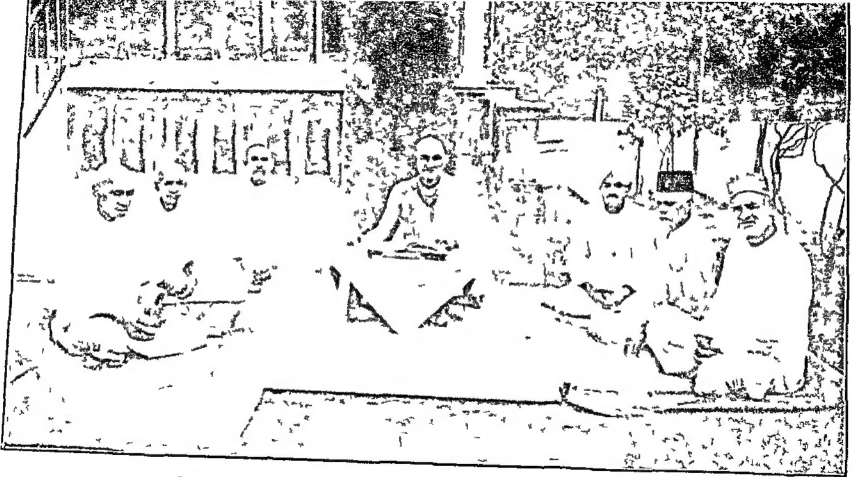
प्रकाशक—

श्री सेठ माणकचन्दजी मगनीरामजी दिगम्बर जैन
सरस्वती भवन दीतवारिया, इन्दौर।

प्रति ५००

मूल्य-सदुपयोग

बाबू निरोतीलाल जैन मैनेजर द्वारा जवरीगाग प्रिं प्रेस इन्दौर में मुद्रित।



श्रीमन्त सर सेठ हुकमचन्दजी सा० विद्वन्मण्डली सहित स्वाध्याय कर रहे हैं।

निवेदन.

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ प्रधान है; क्योंकि यह शेष तीन पुरुषार्थों का बीज है। जैसे बीज से वृक्ष अंकुरित होकर पल्लवित पुष्पित और फलित होता है। वैसे ही जिस आत्मभूमि में धर्मरूप बीज निरन्तर उत्तम भावनाओं से सिंचित होता है, उसी आत्मा में अर्थ पुरुषार्थ पल्लवित होकर काम पुरुषार्थ को कुसुमित करता है और पश्चात् यथा समय मोक्ष पुरुषार्थ फलित होता है, जो अनन्तकाल पर्यन्त आमोद प्रमोद का अनुभव कराता है।

अखिल विश्व में धर्म एक है, उसका परिवर्त्तन कभी नहीं होता। ससार में जो अनेक मत-अभिप्राय विश्रुत हैं, उन्हें लोग धर्म का नाम देकर दिग्भ्रान्त हो रहे हैं। धर्मनाम वस्तु के स्वभाव का है—

वत्थुसहावो धम्मो उत्तमखमादिदसलक्खणो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाण रक्खण धम्मो ॥ १ ॥

अर्थात् —जो वस्तु का शुद्ध स्वभाव है, वही उसका धर्म है। हम आत्मा हैं, हमारा 'शुद्धचिद्रूप' धर्म है। और उत्तमक्षमा आदि दश धर्म का पालन, रत्नत्रय का आचरण जीवों का रक्षण उसकी प्राप्ति में कारण है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके उनको भी धर्म नाम से घोषित किया है। जैसे 'अन्न वै प्राणा' अन्न प्राणों की रक्षा करनेवाला है, इसलिए उसे भी प्राण नाम से व्यवहृत करते हैं। वैसे ही उत्तमक्षमादि का अनुष्ठान आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वभाव की प्रादुर्भूति में साधक है।

पाठकवृन्द ! यह आत्मा अनादिकाल से अपने असली स्वभाव को भूलकर पर पदार्थों के मोह में फंसकर अज्ञानवश उन्हें ही अपने मान बैठा है, इस भ्रांति से यह सुख की कामना हुए भी दुःख के साधनों को जुटाकर शांति के बदले अशांति का अनुभव करता है। इस भ्रांति को दूर करने के लिए वास्तविक स्वरूप के प्रदर्शक आध्यात्मिक शास्त्रों का मनन चिन्तन व निदिध्यासन करना आवश्यक है।

महानुभावो ! हमारा अन्तःकरण आज आनन्द से उच्छ्वलित हो रहा है कि हम आपके समक्ष एक अपूर्व ग्रन्थ उपस्थित कर रहे हैं। जो आत्मा के असली स्वरूप को सरलता से आदर्श के समान प्रदर्शित करता [illegible] की प्राप्ति में जो २ साधन हैं, उन सब का बड़ी सुन्दरता से विवेचन करता है।

सम्पूर्ण मानव जाति की लिप्सा से परद्रव्यों की इच्छा और उनकी प्राप्ति के लिए अहर्निश सतत प्रयत्न रत [illegible] कतिपय वैज्ञानिकों ने तो बाह्यजगत के ज्ञान आविष्कार और उद्योगों से विश्व को विस्मित कर दिया [illegible] (आध्यात्मिक) ज्ञान शून्य होने के कारण वे शांति सुख के स्थान में अशांति का ज्वालामुखी [illegible] स्वयं भी भस्मसात् हो रहे हैं और अन्य प्राणियों को उसमें झोंक रहे हैं। पारलौकिक ज्ञान [illegible] आत्मा को पथभ्रष्ट कर अनन्तकाल के लिए दुःख के दलदल में फँसा देता है, जिससे उद्धार

[illegible] रे पदार्थों को बलात्कार अपने बनाने की दुष्कामना को निर्मूलन करने के लिए प्रस्तुत शास्त्र का [illegible]हिए। हम अन्तःकरण की तीव्रतर ध्वनि से उद्घोषित करते हैं कि यदि इस ग्रंथ का जो अवलोकन व मनन करेंगे, उन्हें अवश्य अपूर्व शांति का अनुभव होगा। इसमें व्यवहार और वस्तु का विवेचन किया गया है। ग्रंथ के अध्ययन से ग्रंथ कर्ता का आध्यात्मिक अनुभव

अतिगभीर प्रकट होता है। दुरूह विषय को भी आपने पौराणिक कथा कहानियों की भांति अत्यत रोचक और सरल कर दिया है जिससे कि सामान्य बुद्धि के धारक मनुष्य भी इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं।

विशेषत भौतिक वाद प्रधान इस परद्रव्यापहरण-लिप्सु युग में आत्मोन्नति के मार्ग प्रदर्शक ऐसे ग्रथ रत्नों के प्रसार की अत्यत आवश्यकता है।

इस ग्रन्थरत्न के कर्त्ता मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषण हैं। जो मूल सघ के आचार्य और भट्टारक सकल कीर्ति के शिष्य भुवनकीर्ति के शिष्य थे। ग्रन्थ कर्ता ने इसका ग्रथ के अन्त में निम्नोक्त परिचय दिया है।

जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसघेऽग्रणी—
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद् भव्याम्बुजानन्दकृत्।
विख्यातो भुवनादिकीतिरथ यस्तत्पादंपकजे रत—
स्तत्त्वज्ञानतरगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ॥१८।२१॥

अर्थात्—मूलसघ में श्रेष्ठ सकलकीर्ति आचार्य हुए। उनके पट्टरूपी उदयाचल पर्वत पर भास्करवत् भव्यकमलों को आनन्द से प्रफुल्लित करने वाले भुवन विख्यात भुवनकीर्ति हुए। उनके पादपद्म का सेवक मै ज्ञान भूषण हू, जिसने इस तत्त्वज्ञानतरगिणी की रचना की है।

आपने अपने दिव्य जीवन से विक्रम की सोलहवीं शताब्दी को अलकृत किया था। इस का निर्धारण इसी ग्रथ के निम्नाकित श्लोक से होता है।

यदैव विक्रमातीताः शतपच दशाधिकाः।

षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृति' ॥

अर्थात्—जब विक्रम संवत्सर के १५६० वर्ष बीत चुके, तब इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ।

इनके अतिरिक्त आपकी अन्य कृति का तथा क्या २ आपके द्वारा सातिशय कार्य हुए, इनका हमें कुछ भी पता नहीं चला है। इसलिए आपका अधिक वृत्त प्रकट करने में हम असमर्थ हैं।

यह ग्रंथ अठारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में शुद्धात्माके स्वरूप का निरूपण किया गया है और शेष सत्रह अध्यायों में शुद्धचिद्रूप की साधना के उपायों का विशद विवेचन किया गया है। और सम्पूर्ण ग्रन्थ ४३६ श्लोकों में समाप्त हुआ है।

इसका प्रथम संस्करण श्री भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता द्वारा लगभग ३० वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इसके अनुवाद कर्त्ता पंडितप्रवर गजाधरलालजी न्यायतीर्थ हैं। आपने बड़े प्रयत्न से इस अलभ्य ग्रन्थ की गवेषणा करके एवं संस्कृत भाषा से पूर्ण लाभ न उठा सकने वाले अध्यात्म प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है।

द्वितीय-संस्करण का हेतु।

आध्यात्मिक ज्ञान के पिपासु शान्त रस के रसिक श्रीमान रायबहादुर राज्यभूषण, राज्यरत्न रईस उद्दोला ताजीमी सरदार धर्मवीर दानवीर सर सेठ हुकमचन्दजी सा० हैं। जिनका व्यक्तित्व वर्तमान युग में भारतवर्ष में ही क्या अमेरिका आदि विदेशों में भी विश्रुत है। आप में औदार्यादि अनेक गुणों के साथ समय सूचकता गुण विशेष प्रशंसनीय है। इस गुण के कारण आपने देश व समाज के हितार्थ बाहुबल से उपार्जित अपनी गाढी कमाई की विपुल धनराशि

में से ७५ ८० लाख रु का दान करके धार्मिक व परोपकारिणी भावना प्रगट कर अपूर्व यशस्विता प्राप्त की है। जिनमें से २० लाख रु के केपिटल से इन्दौर में दा रा सर स्व० हुकमचंद पारमार्थिक संस्थाएं जनता के लाभार्थ स्थापित की हैं। जिनके संचालक हैं धर्मरत्न श्री लाला हजारीलालजी सा मित्तल। आप श्रीमन्त सर सेठ सा के प्रारंभ से सलाहकार हैं और संस्थाओं की आनरेरी सेवा कर रहे हैं। आप के बुद्धि कौशल और अनुभव पूर्ण प्रबन्ध से संस्थाएं ४० वर्ष से निर्विघ्न और बड़ी सुन्दरता से कार्य करती हुई आगे बढ़ती जा रही हैं।

श्रीमन्त सर सेठ सा० को सदैव आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की पिपासा बनी रहती है। इसलिए आप सदा से दो चार विद्वानों का समागम बना रखते हैं। आप कई बार अपूर्व अध्यात्म वक्ता कानजी स्वामी के पास व पुण्यश्लोक पंडितप्रकांड अध्यात्मयोगी पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी और चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागरजी म०, शांतमूर्ति श्री कुन्थुसागरजी म० आदि के पास अध्यात्म ज्ञान पिपासा की तृप्ति के लिए गये हैं और यथा समय जाते रहते हैं। इस समय भी जैन समाज के सुयोग्य विद्वान पंडित वंशीधरजी सिद्धांत शास्त्री, पं देवकीनन्दनजी सिद्धांत शास्त्री, पं जीवंधरजी न्यायतीर्थ, भक्तजी प्यारेलालजी, ब्र दुलीचन्दजी, छोटेलालजी आदि सज्जनों के सत्समागम में प्रतिदिन २ घन्टे आध्यात्मिक ग्रंथों का स्वाध्याय करते हैं। आपका तत्त्वज्ञान बढ़ा चढ़ा है।

गत वर्ष दशलाक्षणिक धर्म के पर्व दिनों में रात्रि की सभा में तत्त्वज्ञानतरंगिणी शास्त्र विराजमान किया गया था। आपने स्वयं व्याख्याता का पद ग्रहण कर उसकी मार्मिक विवेचना की। आपकी बुलन्द आवाज सार गर्भित हृदय स्पर्शिनी विवेचना से सभा मण्डप और उसके बाहर बैठे और स्थान न मिलने से खड़े हुए हजारों मनुष्यों को अपूर्व आनन्दानुभव हुआ था। आपने मुझसे दूसरी प्रति मांगी। लेकिन उसकी प्रति हमारे मा० म०

सरस्वती भण्डार में न मिली और न इन्दौर के किसी भण्डार में मिली। एवं अन्यत्र भी कहीं हमें उपलब्ध न हो सकी। तब उसी समय मुझे श्रीमन्त सर सेठ सा० ने इस आत्मीय आनन्द वर्धक ग्रन्थ के मुद्रण करवाने की अनुमति दी। उसी समय इसका कार्य प्रारंभ कर दिया गया।

विदुषीरत्न दानशीला सौभाग्यवती श्रीमती सेठानीजी साहिबा भी श्रीमन्त सर सेठ सा० के समान प्रतिदिन आगम ग्रंथों के स्वाध्याय व तात्त्विक चर्चा में निरत रहती हैं। आपकी धार्मिक भावना व वदान्यता प्रशंसनीय है। आपकी वक्तृत्व कला तत्त्वज्ञान व व्यवहारिक ज्ञान के सपुट से अपूर्व छटा दिखाती है। आपने अनेक बार महिलाओं की सार्वजनिक महासभा का नेतृत्व किया है और समय समय पर महिलाओं को कर्त्तव्यपथ का प्रदर्शन करती रहती हैं।

पुण्यकीर्ति उक्त दम्पती के प्रतिरूपस्वरूप कुलकमलभास्कर राज्यरत्न रायबहादुर मर्शीरबहादुर भैया साहब श्री राजकुमारसिंहजी सा० हैं। आपने बुद्धिपाटव व कार्यकुशलता से सम्पूर्ण लौकिक विशाल कार्यभार को सम्हालकर श्रीमन्त सर सेठ सा० को सर्वथा निश्चिन्त कर दिया है। आपकी धार्मिक प्रवृत्ति तथा तत्त्वज्ञान-लिप्सा दिनोंदिन वृद्धिंगत होती जा रही है। आप नित्य भगवत्पूजन करते हैं, एवं आगम के स्वाध्याय में पूर्ण मनोयोग देते हैं। जैन समाज आप जैसे उदीयमान भावी दिव्यनेता को पाकर सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो गई है। जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते हैं कि आप शतायु हों और धर्म व समाज की सेवा करते रहें।

उक्त प्रकार श्रीमन्त सर सेठ सा० का समस्त कुटुम्ब ही परमधार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु है। यह आपके अतिशयशाली पुण्य के संयोग का सूचक है।

श्रीमन्त रावराजा सर सेठ सा० ने अध्यात्म प्रेमियों को यह ग्रन्थ निःशुल्क भेंट देने की अपनी स्वाभाविक वदान्यता प्रकट की है। अतएव हम आपका भूरिभूरि अभिवादन करते हैं। और सर्वज्ञदेव से प्रार्थना करते हैं-आप

चिरायु हों और आपके द्वारा धर्म की अपूर्व दिव्य सेवा होती रहे।

पाठकवृन्द! यह सामान्य नियम है कि विद्वान कितना ही परिश्रम क्यों न करें, प्रथम संस्करण में त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। इस संस्करण में हमने उनको दूरकर ग्रन्थ को परिमार्जित करने का पूर्ण प्रयास किया है, लेकिन हम कहा तक सफल हुए हैं, यह विज्ञ पाठकों के ऊपर निर्भर है।

अन्त में जॅंचरीराग के प्रेस मैनेजर श्री निरोतीलालजी का हम आभार मानते हैं। यदि आप इसके मुद्रण कार्य में मनोयोग नही देते तो हम पाठकों के करकमलों में इसे इतना जल्दी अर्पित नहीं कर सकते।

प्र. श्रावण शुक्ला ५
वीर स. २४७३

प्रार्थी—
रमानाथ जैन शास्त्री (न्यायतीर्थ व्याकरणाचार्य)
व्यवस्थापक—श्री सेठ माणिकचंदजी मगनीरामजी
सरस्वती भवन दीतवारिया,
इन्दौर।

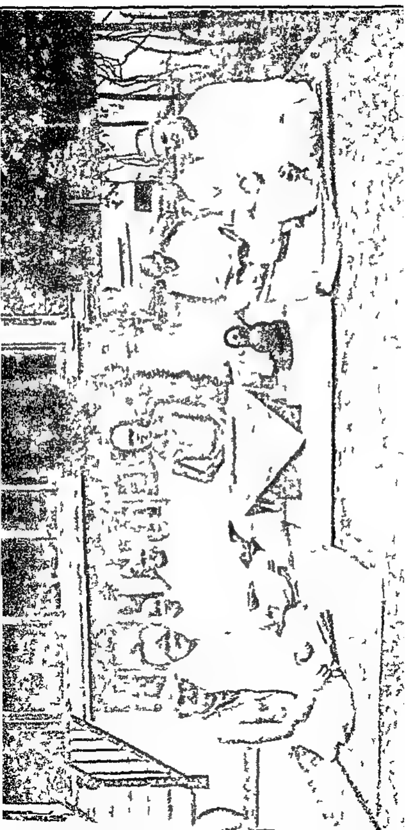
शुद्धिपत्रक ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	११	आकार	आकर
९	४	जीवरे०	जीवेर०
१४	५	शुद्ध	शुद्ध
२६	१	भोगावीन०	भोगावनि०
८४	४	सहनी नहीं पड़ती	सहनी पड़ती
९६	१	पूजित	भूषित
१०९	५	भेदगाने	भेदज्ञाने
११७	७	सयन्ध	सयत्र
११८	९	फोर	घोर
१४४	६	चिदुरूपोलब्धि	चिदूरूपोपलब्धि

1

अध्याय-विषय-सूचि







भट्टारक—श्रीज्ञानभूषणविरचिता

तत्त्वज्ञानतरंगिणी ।



प्रणम्य शुद्धचिद्रूपं सानंदं जगदुत्तमम् ।
तल्लक्षणादिकं वच्मि तदर्थी तस्य लब्धये ॥ १ ॥

अर्थ—निराकुलतारूप अनुपम आनन्द भोगने वाले, समस्त जगत मे उत्तम, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप को नमस्कार कर उसकी प्राप्ति का अभिलाषी मैं (ग्रंथकार) उसके लक्षण आदि का प्रतिपादन करता हूँ । भावार्थ—

इस श्लोक म शुद्ध चिद्रूप विशेष्य और सानद एव जगदुत्तम उसके विशेषण हैं। यहा पर शुद्ध आत्मा की जगह "शुद्ध चिद्रूप" ऐसा कहने से यह आशय प्रगट किया है कि ज्ञान आदि रूप चेतना और आत्मा जुदे पदार्थ नहीं-ज्ञान आदि रूप ही आत्मा है। अनेक महाशय आत्मा को आनद स्वरूप नहीं मानते-उमसे आनद को जुदा मानते हैं, इसलिए उनको समझाने के लिए सानन्द पद कहा है। अर्थात् आत्मा आनन्द स्वरूप है। नास्तिक आदि शुद्ध चिद्रूप को मानते नहीं और उनकी दृष्टि म वह उत्तम भी नहीं जचता, इसलिए उनके बोधनार्थ यहा जगदुत्तम पद दिया है। अर्थात् लोक के समस्त पदार्थों म शुद्ध चिद्रूप ही उत्तम है ॥ १ ॥

पश्यत्यवैति विश्व युगपन्नोकर्मकर्मणामणुभि. ।
अखिलैर्मुक्तो योऽसौ विज्ञेय. शुद्धचिद्रूप. ॥ २ ॥

अर्थ—जो समस्त जगत को एक साथ देखने जानने वाला है। नोकर्म और कर्म के परमाणुओं (वर्गणाओं) से रहित है वही शुद्ध चिद्रूप है। भावार्थ—कार्माण जाति की पुद्गल वर्गणायें लोकाकाश मे सर्वत्र भरी हुई हैं और तेल आदि की चिकनाइ से युक्त पदार्थ पर जिस प्रकार पवन से प्रेरे धूलि के रेणु आकार लिपट जाते हैं उसीप्रकार स्फटिक पाषाण के समान निर्मल भी रागद्वेष रूपी चिकनाई से युक्त आत्मा के साथ कार्माण जाति की

वर्गणायें संबद्ध होजाती हैं। और इसके ज्ञान दर्शन आदि स्वभावों को ढक देती हैं। परन्तु जो समस्त नोकर्म और कर्मों की वर्गणाओं से रहित है और विरोधी कर्म (केवल) दर्शनावरण एवं (केवल) ज्ञानावरण का नाश कर अपने अखण्ड दर्शन और अखण्ड ज्ञान से समस्त लोक को एक साथ देखने जानने वाला है उसीका नाम शुद्ध चिद्रूप है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर एवं आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छः पर्याप्तियों के योग्य कर्म पुद्गल, नोकर्म हैं और ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्म कहे जाते हैं ॥ २ ॥

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति ।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस रूप से स्थित हैं उन्हें उसी रूप से एक साथ जानने देखनेवाला, आकुलता-रहित और समस्त गुणों का भण्डार शुद्ध चिद्रूप कहा जाता है। यहां इतना विशेष है कि पहिले श्लोक से सिद्धों को शुद्ध चिद्रूप कहा है और इस श्लोक से अर्हंत भी शुद्ध चिद्रूप हैं यह बात बतलाई है ॥ ३ ॥

स्पर्शरसगंधवर्णैः शब्दैर्मुक्तो निरंजनः स्वात्मा ।
तेन च खैरग्राह्योऽसावनुभावनागृहीतव्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— यह स्वात्मा स्पर्श रस, गंध, वर्ण और शब्दों से रहित है। निरंजन है। इसलिये किसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत न होकर अनुभावना से– स्वानुभव प्रत्यक्ष में इसका ग्रहण होता है। भावार्थ—जिस पदार्थ में स्पर्श रस आदि गुण होते हैं, उसका ही प्रत्यक्ष स्पर्शन आदि इन्द्रियों से होता है, अन्य का नहीं। इस स्वात्मा शुद्ध आत्मा में कोई स्पर्श आदि है नहीं, इसलिये स्पर्श के अभाव से इस स्पर्शन इन्द्रिय से, रस के अभाव से रसना इन्द्रिय से गंध के अभाव से घ्राण इन्द्रिय से, वर्ण के अभाव से चक्षुरिन्द्रिय से और शब्द के अभाव से श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं जान सकते। किन्तु केवल 'अहं अहं' इस अन्तर्मुखाकार प्रत्यक्ष में इसका ज्ञान होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ४ ॥

सप्तानां धातूनां पिंडो देहो विचेतनो हेयः ।
तन्मध्यस्थोऽवैतीक्षतेऽखिलं यो हि सोऽहं चित् ॥ ५ ॥

आजन्म यदनुभूतं तत्सर्वं यः स्मरन् विजानाति ।
कररेखावत् पश्यति सोऽहं बद्धोऽपि कर्मणाऽत्यतम् ॥ ६ ॥

श्रुतमागमात् त्रिलोकत्रिकालजं चेतनेतरं वस्तु ।
यः पश्यति जानाति च सोऽहं चिद्रूपलक्षणो नान्यः ॥ ७ ॥

अर्थ— यह शरीर शुक्र रक्त मज्जा आदि मात—धातुओं का समुदाय स्वरूप है। चेतना शक्ति से रहित और त्यागने योग्य है। एवं जो इसके भीतर समस्त पदार्थों को देखने जानने वाला है वह मैं आत्मा हूँ ॥ ५ ॥ जन्म से लेकर आजतक जो पदार्थ अनुभवे हैं उन सब को स्मरण कर हाथ की रेखाओं के समान जो जानता देखता है वह ज्ञानावरण आदि कर्मों से कड़ी रीति से जकड़ा हुआ भी मैं वास्तव में शुद्ध चिद्रूप ही हूँ ॥ ६ ॥ तीनों लोक और तीनों कालों में विद्यमान चेतन और जड़ पदार्थों को आगम से श्रवण कर जो देखता जानता है वह चैतन्यरूप लक्षण का धारक मैं आत्मा हूँ। मुझ सरीखा अन्य कोई नहीं हो सकता। इन श्लोकों से आचार्य उपाध्याय और सामान्य मुनियों का भी शुद्धचिद्रूप पद से ग्रहण किया है ॥ ७॥ स्वयं ग्रंथकार भी शुद्धचिद्रूप पद से किन २ का ग्रहण है, इस बात को दिखाते हैं —

शुद्धचिद्रूप इत्युक्ते ज्ञेयाः पंचार्हदादयः ।

अन्येऽपि तादृशाः शुद्धशब्दस्य बहुभेदतः ॥ ८ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप पद से यहां पर अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पांचों परमेष्ठियों का ग्रहण है तथा इनके समान अन्य शुद्धात्मा भी शुद्धचिद्रूप शब्द से लिये हैं, क्योंकि शुद्ध शब्द के बहुत से भेद

हैं। भावार्थ—यदि शुद्ध निश्चयनय से कहा जाय तो सिद्ध परमेष्ठी ही शुद्धचिद्रूप हो सकते हैं, परन्तु यहा पर भाविनैगमनय से मुनि आदि को भी शुद्ध चिद्रूप माना है, क्योंकि आगे ये भी सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करेंगे ॥८॥

नो दृक् नो धीर्न वृत्तं न तप इह यतो नैव सौख्यं न शक्ति-
र्नादोषो नो गुणीतो न परमपुरुषः शुद्धचिद्रूपतश्च ।
नोपादेयोऽप्यहेयो न च पररहितो ध्येयरूपो न पूज्यो-
नान्योत्कृष्टश्च तस्मात्प्रतिसमयमहं तत्स्वरूपं स्मरामि ॥ ९ ॥

अर्थ—यह शुद्ध चिद्रूप ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। तप, सुख, शक्ति और दोषों का अभाव स्वरूप है। गुणवान और परमपुरुष है। उपादेय ग्रहण करने योग्य और अहेय (न त्यागने योग्य) है। पर परिणति से रहित ध्यान करने योग्य है। पूज्य और सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु शुद्ध चिद्रूप से भिन्न सम्यग्दर्शन आदि कोई पदार्थ नहीं, इसलिये प्रति समय मैं उसीका स्मरण मनन करता हूं। भावार्थ—संसार में जीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तप सुख आदि पदार्थों को हितकारी और उत्तम मानते हैं, परन्तु शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति से ये सब आप से आप आकर प्राप्त होजाते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध चिद्रूप से भिन्न कोई पदार्थ नहीं

इसलिये जिन महानुभावों को सम्यग्दर्शन आदि पदार्थों के पाने की अभिलाषा है। उन्हे चाहिये कि वे शुद्ध चिद्रूप का ही स्मरण मनन ध्यान करें ॥ ६ ॥

ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो ज्ञाता दृष्टा स्वभावतः ।
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि तस्माद् द्रव्योत्तमोऽस्ति सः ॥ १० ॥

अर्थ—यद्यपि यह चिद्रूप ज्ञेय-ज्ञान का विषय, दृश्य-दर्शन का विषय है। तथापि स्वभाव से ही यह पदार्थों का जानने और देखने वाला है परन्तु अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ज्ञेय और दृश्य होने पर जानने देखने वाला हो, इसलिये यह चिद्रूप समस्त द्रव्यों मे उत्तम है। भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से द्रव्य छः प्रकार के हैं। उन सब मे जीव द्रव्य सब द्रव्यों में उत्तम है। क्योंकि दूसरो से जाना देखा जाने पर भी यह ज्ञाता और दृष्टा है। परन्तु इससे अन्य सब द्रव्य जड़ हैं, इसलिये वे ज्ञान और दर्शन के ही विषय हैं। अन्य किसी पदार्थ को देखते जानते नहीं ॥ १० ॥

स्मृतेः पर्यायाणामवनिजलभृतामिन्द्रियार्थागसां च ।
त्रिकालानां स्वान्योदित वचनततेः शब्दशास्त्रादिकानां ॥

सुतीर्थानामग्रप्रमुखकृतरुजां द्माऽरुहाणां गुणानां ।
विनिश्चेयः स्वात्मा सुविमलमतिभिर्दृष्टबोधस्वरूपः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि निर्मल है–स्व और पर का विवेक रखने वाली है, उन्हे चाहिये कि वे दर्शन ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा को–बाल कुमार युवा आदि अवस्थाओं और क्रोध, मान, माया आदि पर्यायों के स्मरण से पर्वत और समुद्र के ज्ञान से रूप रस गंध आदि इन्द्रियों के विषय और अपने अपराधों के स्मरण से भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के ज्ञान से अपने पराये वचनों के स्मरण से व्याकरण न्याय आदि शास्त्रों के मनन ध्यान से निर्वाण भूमियों के देखने जानने से शस्त्र आदि से उत्पन्न हुये घावों के ज्ञान से भांति २ के वृक्षों की पहिचान से और भिन्न २ पदार्थों के भिन्न २ गुणों के ज्ञान से पहिचाने। भावार्थ—जो पदार्थ ज्ञानशून्य जड हैं उनके अन्दर यह सामर्थ्य नहीं कि व बाल कुमार वृद्ध आदि अवस्था, क्रोध मान माया आदि पर्याय पर्वत समुद्र रूप आदि इन्द्रियों के विषय, अपने पराये अपराध, तीन काल, अपने परके वचन, न्याय व्याकरण आदि शास्त्र, निर्वाण भूमि, घाव आदि का दुःख, भांति २ के वृक्ष और पदार्थों के भिन्न २ गुण जान सकें। उन्हें तो दर्शन ज्ञान स्वरूप आत्मा ही जान सकता है, इसलिये पर्याय आदि के स्मरण ज्ञान को रखने वाले आत्मा को अन्य पदार्थों से जुदाकर पहिचान लेना चाहिये ॥११॥

ज्ञप्त्या दृक् चिदिति ज्ञेया सा रूप यस्य वर्त्तते ।
स तथोक्तोन्यद्रव्येण मुक्तत्वात् शुद्ध इत्यसौ ॥ १२ ॥
कथ्यते स्वर्णवत् तज्ज्ञैः सोहं नान्योस्मि निश्चयात् ।
शुद्धचिद्रूपोऽहमिति षड्वर्णार्थो निरुच्यते ॥ १३ ॥ युग्म ॥

अर्थ ज्ञान और दर्शन का नाम चित् है। जिसके यह विद्यमान हो वह चिद्रूप-आत्मा कहा जाता है। तथा जिस प्रकार कीट कालिमा आदि अन्य द्रव्यों से रहित सुवर्ण शुद्धसुवर्ण कहलाता है। उसी प्रकार जिस समय यह चिद्रूप समस्त परद्रव्यों से रहित हो जाता है उस समय शुद्धचिद्रूप कहा जाता है वही शुद्ध चिद्रूप निश्चय से मैं हूं इस प्रकार "शुद्धचिद्रूपोऽहं" इन छह वर्णों का परिष्कृत अर्थ समझना चाहिये। भावार्थ —जिस प्रकार सुवर्ण के चाकचिक्य पीतता आदि गुण धारण करनेवाला सुवर्ण कहा जाता है और अग्नि से तपाने पर जब कीट कालिमादि परपदार्थ उससे जुदे हो जाते है, तब वह शुद्ध स्वर्ण कहलाता है, उसी प्रकार जिसमे ज्ञान दर्शन रूप चित् शक्ति हो वह चिद्रूप है और जो समस्त कर्म आदि पर द्रव्यों से रहित होगया हो, किंवा 'अपनी आत्मा को परद्रव्यों से रहित मानने वाला हो' उसे शुद्ध चिद्रूप समझना चाहिये और ऐसा शुद्ध चिद्रूप मैं हूं

एसा विचारना चाहिये ॥१२-१३॥

दृष्टैर्ज्ञातैः श्रुतैर्वा विहितपरिचितैर्निंदितैः सस्तुतैश्च,
नीतैः संस्कारकोटिं कथमपि विकृतिं नाशनं संभवं वै ।
स्थूलैः सूक्ष्मैरजीवैरसुभिरनिकरयुतैः स्वाप्रियैः स्वप्रियैस्तै-
रन्यैर्द्रव्यैर्न साध्यं किमपि मम चिदानंदस्वरूपस्य नित्यं ॥१४॥

अर्थ—मेरा आत्मा चिदानंद स्वरूप है मुझे परद्रव्यों से चाहे वे देखे हो, जाने हों, परिचयमें आये हों, बुरे हो, भले हों, भले प्रकार संस्कृत हों, विकृत हों, नष्ट हो, उत्पन्न हों, स्थूल हों, सूक्ष्म हों, जड़ हों, चेतन हों, इंद्रियों को प्रिय हों, वा अप्रिय हों कोई प्रयोजन नहीं। भावार्थ जब तक मुझे अपने चिदानंद स्वरूप का ज्ञान न था तब तक मैं बाह्य पदार्थों मे लिप्त था- उन्हें ही अपना समझता था, तथा दृष्ट श्रुत अनुभूत भले बुरे प्रिय अप्रिय आदि मानकर हर्ष विषाद करने लगता था, परंतु जब मुझे आत्मिक चिदानंद स्वरूप का भान हुआ; तब मुझे स्पष्ट ज्ञान पड़ा कि पर पदार्थों से मेरा किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता, इसलिये इनसे तनिक भी प्रयोजन नहीं सध सकता ॥१४॥

विक्रियाभि रशेषाभि रंगकर्मप्रसूतिभिः ।
मुक्तो योऽसौ चिदानंदो युक्तोऽनंतदृगादिभिः ॥१५॥

अर्थ— यह चिदानंद, शरीर और कर्मों के समस्त विकारोसे रहित है और अनत दर्शन अनंत ज्ञान आदि आत्मिक गुणों से सयुक्त है। भावार्थ अंग और कर्म जड़ है। वे चिदानंद स्वरूप आत्मा को किसी प्रकार विकृत नही बना सकते, इसलिये यह चिदानंद स्वरूप आत्मा उनके विकारों से सर्वथा विमुक्त है तथा अनतदर्शन अनतज्ञान आदि जो इसके निजस्वरूप हैं उनसे सर्वदा भूपित है ॥ १५ ॥

असावनेकरूपोऽपि स्वभावादेकरूपभाग् ।
अगम्यो मोहिनां शीघ्रं गम्यो निर्मोहिनां विदां ॥ १६ ॥

अर्थ—यद्यपि यह चिदानद स्वरूप आत्मा अनेक स्वरूप है तथापि स्वभाव से यह एक ही स्वरूप है, जो मूढ है—मोह की शृखला से जकड़े हुए हैं, वे इसका जरा भी पता नही लगा सकते, परतु जिन्होने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया है ; वे इसका बहुत जल्दी पता लगा लेते हैं। भावार्थ—आत्मा अनतज्ञान अनतदर्शन अनतसुख अनतवीर्य आदि अनंत गुणो का भंडार है इसलिये इसे अनतज्ञान स्वरूप अनन्तदर्शन स्वरूप अनन्तसुख स्वरूप

आदि कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह एक स्वरूप चेतन स्वरूप ही है। जो मनुष्य मोह के नशे में मस्त हैं—पर द्रव्यों को अपना मान सदा उनमें अनुरक्त रहते हैं। वे रत्ती भर भी इस चिदानन्द स्वरूप आत्मा का पता नहीं पासकते किन्तु जो मोह से सर्वथा रहित हैं—पर पदार्थों को जरा भी नहीं अपनाते, वे बहुत ही जल्दी इसके स्वरूप का आस्वाद कर लेते हैं ॥ १६ ॥

चिद्रूपोऽयमनाद्यतः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।
कर्मणाऽस्ति युतोऽशुद्धः शुद्धः कर्मविमोचनात् ॥ १७ ॥

अर्थ—यह चिदानन्द स्वरूप आत्मा, अनादि अनन्त है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्था स्वरूप है। जब तक कर्मों से युक्त बना रहता है, तब तक अशुद्ध और जिस समय कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है, उस समय शुद्ध हो जाता है। भावार्थ—यह चिदानन्द स्वरूप आत्मा कब हुआ और कब नष्ट होगा ऐसा नहीं कह सकते, इसलिये अनादि अनन्त है। कभी इसकी घटज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होती है और कभी वह नष्ट होती है, तथा इसका चेतना स्वरूप सदा विद्यमान रहता है; इसलिये यह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थाओं का धारक है और जबतक यह कर्मों के जाल में फंसा रहता है। तबतक तो अशुद्ध रहता है। और कर्मों से सर्वथा जुदा होते ही शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥

विषय में अज्ञानी है। इसलिये वह चित्स्वरूप का भलेप्रकार ज्ञान नहीं रख सकता और ज्ञानके न रखने से उसके माहात्म्य को न जानकर उसे धारण भी नहीं कर सकता।

भावार्थ—जो मनुष्य जिस बातको जानता है, वही उसकी प्राप्ति के लिये उद्योग करता और उसे प्राप्त कर सका है। अज्ञानी मनुष्य अज्ञात पदार्थ की प्राप्तिके लिये न उद्योग करसकता है और न उसे धारण ही कर सकता है। मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं, ऐसा चिद्रूप का मुझे ज्ञान है और उसके माहात्म्य को भी भले प्रकार समझता हूं, इसलिये उसके द्वारा उससे उसकी प्राप्तिके लिये म उसे धारण करता हूं, किन्तु जो मनुष्य चिद्रूप का ज्ञान नहीं रखता और चिद्रूप के महात्म्य को भी नहीं जानता, वह उसे धारण भी नहीं कर सकता ॥२०॥

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के अभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञान तरंगिणी में
शुद्धचिद्रूप का लक्षण प्रतिपादन करनेवाला पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

द्वितीय अध्याय ।

मृतपिंडेन विना घटो न न पटस्तंतून् विना जायते,
धातुर्नैव विना दलं न शकटः काष्ठं विना कुत्रचित् ।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजं विना,
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुनेर्मोक्षस्तथा नैव च ॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार अन्य सामान्य कारणोंके रहनेपर भी असाधारण कारण मिट्टीके पिंडके विना घट नहीं बन सकता । तंतुओं के विना पट, खदरू (जिस जगह गेरू आदि उत्पन्न होते हैं) के बिना गेरू आदि धातु, काठके विना गाडी और बीज के विना धान्य नहीं हो सकता । उसी प्रकार जो मुनि मोक्ष के अभिलाषी हैं, मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, वे भी विना शुद्ध चिद्रूपके स्मरण के उसे नहीं पासकते ।

भावार्थ—मूल में साधारण कारणो की मौजूदगी होनेपर भी यदि असाधारण कारण न हों तो कदापि कार्य नहीं हो सकता । घट की उत्पत्ति मे असाधारण कारण मृत्पिंड, पट की उत्पत्ति मे तंतु, धातु की उत्पत्ति में

रदक गाडी की उत्पत्ति मे चाक, और धान्यकी उत्पत्ति मे असाधारण कारण बीज हैं। जिसप्रकार मृत्पिंड आदि के बिना घट आदि नहीं बन सकते। उसीप्रकार मोक्ष की प्राप्ति मे असाधारण कारण शुद्ध आत्मा का स्मरण है, इसलिये अन्य हजारों सामान्य कारणों के जुटाने पर भी बिना शुद्धचिद्रूप के स्मरण के मोक्षप्राप्ति भी कदापि नहीं हो सकती, इसलिये मोक्षप्राप्ति के अभिलाषियों को चाहिये कि वे अवश्य शुद्धात्मा का स्मरण करें ॥१॥

बीजं मोक्षतरोर्भवार्णवतरी दुःखाटवीपावको,
दुर्गं कर्मभिया विकल्परजसां वात्यागसां रोधनम् ।
शस्त्रं मोहजये नृणामशुभता पर्यायरोगौषधम्,
चिद्रूपस्मरणं समस्ति च तपोविद्यागुणानां गृहम् ॥२॥

अर्थ—यह शुद्धचिद्रूप का स्मरण मोक्षरूपी वृक्षका कारण है। संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिये नाव है। दुखरूपी भयंकर वनके लिये दावानल है। कर्मों से भीत मनुष्यों के लिये सुरक्षित सुदृढ़ किला है। विकल्प रूपी रजके उडाने के लिये पवनका समूह है। पापों का रोकनेवाला है। मोहरूप सुभट के जीतने के लिये शस्त्र

है। नरक आदि अशुभपर्यायरूपी रोगों के नाश करने के लिये उत्तम अव्यर्थ औषध है। एवं तप विद्या और अनेक गुणों का घर है।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण करनेवाला है,वह मोक्ष प्राप्त करलेता है। संसारको पार करलेता है। समस्त दुःखों को दूर करदेता है। कर्मों के भय से रहित हो जाता है। त्रिशल्य और पापों का नाश करदेता है। मोहको जीतलेता है। नरक आदि पर्यायों से सर्वदा के लिये छूट जाता है। और अनेक तप विद्या आदि गुणों की भी प्राप्ति करलेता है। इसलिये शुद्ध चिद्रूपका अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥२॥

क्षुत्तृड्रुग्वातशीतातपजलवचसः शस्त्रराजादिभीभ्यो-
भार्यापुत्रारिनैःस्वानलनिगडगवाद्यश्वरैकंटकेभ्यः।
संयोगायोगदंशिप्रपतनरजसो मानभंगादिकेभ्यो-
जातं दुःखं न विद्मः क्व च पटति नृणां शुद्धचिद्रूपभाजाम् ॥३॥

अर्थ—संसार में जीवोंको क्षुधा तृषा रोग वात ठंड उष्णता जल कठोरवचन शस्त्र राजा स्त्री पुत्र शत्रु

निर्धनता अग्नि वैरी गौ ऊँट घोड़े घन कंटक सयोग वियोग डास मच्छर पतन धूलि मानभंग आदिसे उत्पन्न हुये अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं। परन्तु न मालूम—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप के स्मरण करनेवाले हैं, उनके वे दु ख कहा विलीन हो जाते हैं ?।

भावार्थ—जो महानुभाव शुद्धात्माका स्मरणकरनेवाले हैं, उन्हे भूख नहीं सताती। प्यास दु ख नहीं देती। रोग नहीं होता। वात नहीं सताती। ठंड नहीं लगती। उष्णता व्याकुल नहीं करती। जलका उपद्रव नहीं होता। क्रूर मनुष्यों द्वारा कहे हुये दुष्ट वचन दु ख नहीं पहुचाते। राजा आदि दंड नहीं द सकता। दुष्ट स्त्री पुत्र शत्रुओंसे उत्पन्न हुआ दु ख नहीं भोगना पड़ता। निर्धनता-दरिद्रता नहीं होती। अग्निका उपद्रव नहीं सहन करना पड़ता। बधनमें नहीं रुधना पड़ता। गौ और अश्व आदिसे पीड़ा नहीं होती। धनकी चोरी से दु.ख नहीं होता, कांटे दुख नहीं देते। अनिष्ट पदार्थों का सयोग नहीं होता, इष्ट पदार्थ वियुक्त नहीं होते। डांस मच्छर दुख नहीं दे सकते। पतन नहीं हो सकता। तथा धूलि और मान भंगका भी कष्ट नहीं भोगना पड़ता। इसलिये शुद्धचिद्रूप का स्मरण परम सुख देनेवाला है ॥३॥

स कोपि परमानंदश्चिद्रूपध्यानतो भवेत्।

तदंशोऽपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ॥४॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप के ध्यानसे वह एक अद्वितीय और अपूर्व ही आनन्द होता है। जिसका अंश भी तीन जगत के स्वामी इन्द्र आदि को प्राप्त नही हो सकता।

भावार्थ—इन्द्र नरेन्द्र और धरणेन्द्र यद्यपि सर्वोत्तम विषय सुख का भोग करते हैं। परतु वह सुख, सुख नहीं कहलाता; क्योंकि शुद्धचिद्रूप के ध्यान से उत्पन्न हुए आत्मिक नित्य सुखकी वह अनित्य तथा परपदार्थों से जन्य होने से अशमात्र भी तुलना नहीं कर सकता ॥४॥

सौख्य मोहजयोऽशुभास्रवहतिर्नाशोऽतिदुष्कर्मणा—
मत्यन्तं च विशुद्धता नरि भवेदाराधानातात्त्विकी।
रत्नानां त्रितयं नृजन्म सफल ससारभीनाशन,
चिद्रूपोहमितिस्मृतेश्च समता सद्भ्यो यशःकीर्त्तनम् ॥५॥

अर्थ—'मै शुद्धचिद्रूप हू, ऐसा स्मरण होते ही नानाप्रकार के सुखोंकी प्राप्ति होती है। मोहका विजय, अशुभ आस्रव और दुष्कर्मों का नाश, मान्यता, अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम आराधना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

सम्यक्चारित्ररूपी रत्नोंकी प्राप्ति, मनुष्य जन्म की सफलता, ससार के भय का नाश, सर्वजीवों में समता और सज्जनों के द्वारा कीर्तिका गान होता है।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप का स्मरण ही जब सौख्यका कर्ता, मोहका जीतनेवाला, अशुभ आस्रव एवं दुष्कर्मों का हर्त्ता होता है और मान्यता, अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम आराधना, सम्यग्दर्शन आदि रत्नो की प्राप्ति मनुष्य जन्म की सफलता, ससार के भय का नाश, सर्वजीवों में समता एवं सज्जनों से कीर्ति गान कराने वाला है, तब उसकी प्राप्ति तो और भी उत्तमोत्तम फल प्रदान करनेवाली होगी, इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप का सदा स्मरण करते हुए उसकी प्राप्ति का उपाय करें ॥५॥

वृत्तं शीलं श्रुतं चाखिलजपतपोदृष्टिसद्भावनाश्च
धर्मो मूलोत्तराख्या वरगुणनिकरा आगसां मोचनं च।
बाह्यांत:सर्वसंगत्यजनमपि विशुद्धान्तरङ्गं तदानी-
मूर्मीणां चोपसर्गस्य सहनमभवच्छुद्धचित्संस्थितस्य ॥६॥

अर्थ—जो महानुभाव शुद्ध चिद्रूप में स्थित है, उसके सम्यक्चारित्र शील और शास्त्र की प्राप्ति होती है।

इन्द्रियों का विजय होता है। तप सम्यग्दर्शन उत्तम भावना और धर्म का लाभ होता है। मूल और उत्तरगुण प्राप्त होते हैं। समस्त पापों का नाश, बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग, और अंतरंग विशुद्ध हो जाता है। एवं वह नाना प्रकार के उपसर्गों की तरंगों को भी झेल लेता है।

भावार्थ— शुद्ध चिद्रूप में मनके स्थिर करने से उत्तमोत्तम सुख प्राप्त होते हैं। और दुख दूर होजाते हैं। इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे कर्ममल रहित पवित्र चैतन्य स्वरूप आत्मा में अपना मन स्थिर करें ॥६॥

तीर्थंपूत्कृष्टतीर्थं श्रुतिजलधिभवं रत्नमादेयमुच्चैः
सौख्यानां वा निधानं शिवपदगमने वाहनं शीघ्रगामि।
वात्यां कर्मौघरेणौ भववनदहने पावकं विद्धि शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं विचारादिति वरमतिमन्त्राक्षराणां हि पट्कम् ॥७॥

अर्थ:—ग्रन्थकार उपदेश देते हैं कि—हे मतिमन् 'शुद्धचिद्रूपोऽहं' मैं शुद्ध चित्स्वरूप हूं, ऐसा सदा तुझे विचार करते रहना चाहिये। क्योंकि "शुद्धचिद्रूपोऽहं" ये छह अक्षर संसार से पार करनेवाले समस्त तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ हैं। शास्त्र रूपी समुद्र से उत्पन्न हुए ग्रहण करने के लायक उत्तम रत्न हैं। समस्त सुखों के विशाल

खजाने हैं। मोक्ष स्थान में ले जाने के लिये बहुत जल्दी चलने वाले वाहन (सवारी) हैं। कर्मरूपी धूलि के उड़ाने के लिये प्रबल पवन हैं, और संसार रूपी वन के जलाने के लिये जाज्वल्यमान अग्नि हैं ॥७॥

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि, क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।

क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोऽहं स्मरणेन विद्मः ॥८॥

अर्थ—हम नहीं कह सकते कि "शुद्धचिद्रूपोऽहं" मैं शुद्ध चित्स्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण करते ही शुभ अशुभ कर्म, चेतन अचेतन स्वरूप परिग्रह और रागद्वेष आदि दुर्भाव कहां लापता हो जाते हैं ?।

भावार्थ—शुद्धचित्स्वरूप के स्मरण करते ही शुभ अशुभ समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। चेतन अचेतन स्वरूप परिग्रहों से भी सर्वथा संबंध छूट जाता है। और रागद्वेष आदि महादुष्ट भाव भी एक ओर किनारा कर जाते हैं। इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे अवश्य इस चिद्रूप का स्मरण ध्यान करें ॥८॥

मेरुः कल्पतरुः स्वर्णममृतं चिंतामणिः केवल-

साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेन्द्रो महान् ॥

भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधी, वृत्ताप्तगोमानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह, ध्यानेषु शुद्धात्मनः ॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार पर्वतो मे मेरु, वृक्षो मे कल्पवृक्ष, धातुओं मे स्वर्ण, पीने योग्य पदार्थों में अमृत, रत्नों मे चिंतामणिरत्न, ज्ञानों मे केवलज्ञान, चारित्रों में समतारूपचारित्र, आप्तों म तीर्थंकर, गायों मे कामधेनु, मनुष्यों मे चक्रवर्ती, और देवों मे इन्द्र, महान और उत्तम हैं। उसीप्रकार ध्यानों में शुद्धचिद्रूप का ध्यान ही सर्वोत्तम है।

भावार्थ—जिस प्रकार अन्यपर्वत मेरुपर्वत की, अन्यवृक्ष कल्पवृक्ष की, अन्यधातु स्वर्णकी, अन्य पीनेयोग्य पदार्थ अमृत की, अन्यरत्न आदि पदार्थ चिंतामणि आदिकी तुलना नहीं कर सकते। उसी प्रकार अन्य पदार्थों का ध्यान शुद्धात्मा के ध्यान के समान नहीं हो सकता। इसलिये शुद्धचिद्रूप का ध्यान ही सर्वोत्तम और लाभ दायक है। ॥६॥

निधानानां प्राप्ति, र्न च सुरकुरुरुहां, कामधेनोःसुधाया-
श्चिंतारत्नाना, मसुरसुरनरा, काशगेशोदिराणाम्।

स्वभोगानां भोगा, वीनभवनभुवां, चाहमिंद्रादिलक्ष्म्या -
न सन्तोषं कुर्या, दिह जगति यथा, शुद्धचिद्रूपलब्धिः ॥१०॥

अर्थ—यद्यपि अनेक प्रकार के निधान, (खजाने) कल्पवृक्ष, कामधेनु, अमृत, चिंतामणिरत्न, सुर, असुर, नर और विद्याधरों के स्वामियों की लक्ष्मी, भोगभूमियों म प्राप्त इन्द्रियों के भोग और अहमिंद्र आदि की लक्ष्मी की प्राप्ति भी ससार म सतोष सुख प्रदान करनेवाली है। परन्तु जिस प्रकार का सतोष शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति से होता है, वैसा इन किसी से नहीं होता।

भावार्थ—अनेक प्रकार के निधान कल्पवृक्ष आदि पदार्थ ससार म सर्वथा दुर्लभ हैं। बडे भाग्य से मिलते हैं। इसलिये इनकी प्राप्ति से भी अवश्य कुछ न कुछ सतोष होता है। परन्तु वैसा सतोष नहीं होता, जैसाकि शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति से होता, क्योंकि निधान कल्पवृक्ष आदि अनित्य हैं। उनसे थोडे काल के लिये ही सतोष हो सकता है। शुद्धचिद्रूप नित्य है—कभी इसका नाश नहीं हो सकता। इसलिये इसकी प्राप्ति से जो सुख होता है, वह सदा विद्यमान रहता है ॥१०॥

ना दुर्वर्णो विकर्णो, गतनयनयुगो, वामनः कुब्जको वा,

छिन्नघ्राणः कुशब्दो, विकलकरयुतो, वाग्विहीनोऽपि पगुः ।
खंजो निःस्वोऽनधीत श्रुत इह वधिरः, कुष्टरोगादियुक्तः,
श्लाघ्यः चिद्रूपचिंता, पर इतरजनो, नैव सुज्ञानवाद्भिः ॥११॥

अर्थ–जो पुरुष शुद्धचिद्रूप की चिंता मे रत है–सदा शुद्ध चिद्रूप का विचार करता रहता है। वह चाहे दुर्बल काला-कररा चूचा अन्धा बौना कुवडा नकटा कुशब्दबोलने वाला हाथ रहित-टोंटा गूंगा लूला गंजा दरिद्र मूर्ख बहरा और कोढ़ी आदि कोई भी क्यो न हो, विद्वानो की दृष्टिमें प्रशंसाके योग्य है। सब लोग उसे आदरणीय दृष्टि से देखते हैं। किन्तु अन्य सुंदर भी मनुष्य यदि शुद्धचिद्रूप की चिंता से विमुख है, तो उसे कोई अच्छा नहीं कहता।

भावार्थ–चाहे मनुष्य कुरूप और निर्धनी ही क्यों न हो, यदि वह गुणी है, तो अवश्य उसके गुणो का आदर-सत्कार होता है। किन्तु रूपवान धनी भी मनुष्य यदि गुण शून्य है, तो कोई भी उसका मान नही करता। कुबड़ा अंधा लंगड़ा आदि होनेपर भी यदि कोई पुरुष शुद्धचिद्रूप म रत है, तो वह अवश्य आदरणीय है; क्योंकि वह गुणी है। और अन्य मनुष्य चाहे वह सुंदर सुडौल धनवान ही क्यों न हो, यदि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे शून्य

है, तो यह कदापि प्रशंसा के योग्य नहीं गिना जाता ।११॥

रेणूनां कर्मण सख्या, प्राणिनो वेत्ति केवली ।
न वेद्मीति क्व यांत्येते, शुद्धचिद्रूपचिंतने ॥१२॥

अर्थ—आत्माके साथ कितने कर्म की रेणुओं (वर्गणाओं) का सम्बन्ध होता है ? इस बातकी सिवाय केवली के अन्य कोई भी मनुष्य गणना नहीं कर सकता । परन्तु न मालूम शुद्धचिद्रूप की चिंता करते ही वे अगणित भी कर्म वर्गणायें कहा लापता हो जाती हैं ।

भावार्थ—आत्मा के साथ अनंतकर्म वर्गणाओं का प्रति समय बंध होता रहता है । जिनको सिवाय केवली के अन्य कोई जान देख नहीं सकता । परन्तु शुद्धचिद्रूप की भावनासे आत्माके साथ किसी भी कर्मवर्गणा का बंध नहीं होता ॥१२॥

त चिद्रूप निजात्मान स्मर शुद्धं प्रतिक्षणम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्य' कर्मक्षयोभवेत् ॥१३॥

हे आत्मन् ! तू स्मरण करते ही समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले शुद्धचिद्रूप का प्रतिक्षण स्मरण कर ।

क्योंकि शुद्धचिद्रूप और स्वात्मा में कोई भेद नहीं। दोनों एक ही हैं ॥१३॥

उत्तम स्मरणं शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतेः।
कदापि क्वापि कस्यापि श्रुतं दृष्टं न केनचित् ॥१४॥

अर्थ—'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा स्मरण ही सर्वोत्तम स्मरण माना गया है। क्योंकि उससे उत्तम स्मरण कहीं भी किसी भी स्थानपर हुआ, न सुना और न देखा।

भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि का जो स्मरण प्रति समय इस जीवको होता हुआ देखा या सुना गया है। उससे भी शुद्धचिद्रूप का स्मरण सर्वोत्तम स्मरण समझना चाहिये ॥१४॥

शुद्धचिद्रूपसदृशं ध्येयं नैव कदाचन।
उत्तमं क्वापि कस्यापि भूतमस्ति भविष्यति ॥१५॥

अर्थ—शुद्ध चिद्रूप के समान उत्तम और ध्येय–ध्यान योग्य पदार्थ न कहीं हुआ, न है, न होगा; इसलिये शुद्धचिद्रूप का ही ध्यान करना चाहिये ॥१५॥

ये याता यांति यास्यन्ति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाद्यैव चिद्रूप शुद्धमानदमंदिरम् ॥१६॥

अर्थ—जो योगी मोक्ष नित्यानदरूपी सम्पत्ति को प्राप्त हुए, होते हैं, और होंगे, उसमें शुद्धचिद्रूप की आराधना ही कारण है। बिना शुद्धचिद्रूप की भलेप्रकार आराधना के कोई मोक्ष-नित्यानद नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप ही आनद का मंदिर है—अद्वितीय नित्य आनद प्रदान करने वाला है ॥१६॥

द्वादशांग ततो बाह्य श्रुतं जिनवरोदितम् ।
उपादेयतया शुद्धचिद्रूपस्तत्र भाषितः ॥१७॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र ने अगप्रविष्ट (द्वादशाग) और अंगबाह्य दो प्रकार के शास्त्रों का प्रतिपादन किया है। इन शास्त्रों में यद्यपि अनेक पदार्थों का वर्णन किया है। तथापि वे सब हेय (त्यागने योग्य) कहे हैं और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) शुद्धचिद्रूप को बतलाया है ॥१७॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानाद् गुणाः सर्वे भवंति च ।

दोषाः सर्वे विनश्यति शिवसौख्यं च सभवेत् ॥१८॥

अर्थ— शुद्धचिद्रूप का भले प्रकार ध्यान करने से समस्त गुणों की प्राप्ति होती है। रागद्वेष आदि दोष नष्ट होजाते हैं और निराकुलतारूप मोक्षसुख मिलता है ॥१८॥

चिद्रूपेण च घातिकर्महननाच्छुद्धेन धाम्ना स्थितम्

यस्मादत्र हि वीतरागवपुषो नाम्नापि नुत्यापि च ।

तद्बिंबस्य तदोकसो झगिति तत्काराय कस्यापि च,

सर्वं गच्छति पापमेति सुकृतं तत्तस्य किं नो भवेत् ॥१९॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप से ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतरायरूप घातिया कर्मों का नाश होजाता है। क्योंकि वीतराग-शुद्धचिद्रूप का नाम लेने से उनकी स्तुति करने से तथा उनकी मूर्ति और मंदिर बनवाने से ही जब समस्त पाप दूर होजाते हैं और अनेक पुण्यों की प्राप्ति होती है, तब उनके (शुद्ध चिद्रूप के) ध्यान करने से तो मनुष्य को क्या उत्तमफल प्राप्त न होगा ? अर्थात् शुद्धचिद्रूप का ध्यानी मनुष्य उत्तम से उत्तम फल प्राप्त कर सकता है ॥१९॥

कोऽसौ गुणोऽस्ति भुवने न भवेत्तदा यो-
दोषोऽथवा क इह यस्त्वरित न गच्छेत् ।
तेषां विचार्य कथयंतु बुधाश्च शुद्ध-
चिद्रूपकोऽहमिति ये यमिनः स्मरंति ॥२०॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं- प्रिय विद्वानो ! आप ही विचार कर कहें। जो मुनिगण 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा स्मरण करनेवाले हैं, उन्हें कौन से तो वे गुण हैं, जो प्राप्त नहीं होते और कौन से वे दोष हैं, जो उनके नष्ट नहीं होते। अर्थात् शुद्धचिद्रूप के स्मरण करनेवालों को समस्त गुण प्राप्त होजाते हैं, और उनके सब दोष दूर होजाते हैं ॥२०॥

तिष्ठत्वेकत्र सर्वे वरगुणनिकराः सौख्यदानेऽतितृप्ताः,
सम्भूयात्यतरम्या वरविधिजनिता ज्ञानजाया तुलायाम् ।
पार्श्वेन्यास्मिन् विशुद्धा ह्युपविशतु वरा केवला चेति शुद्ध-

चिद्रूपोऽहं स्मृतिर्भो कथमपि विधिना तुल्यतां ते न यांति ॥२१॥

अर्थ—ज्ञानको तराजू की कल्पना कर, उसके एक पलड़े मे समस्त उत्तमोत्तम गुण, जो भांति भाति के सुख प्रदान करने वाले हैं, अत्यन्तरम्य और भाग्य से प्राप्त हुये हैं, इकट्ठे कर रक्खे। और दूसरे पलड़े मे अतिशय विशुद्ध केवल 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसी स्मृति को रक्खे। तब भी वे गुण शुद्धचिद्रूप की स्मृति की तनिक भी तुलना नही कर सकते।

भावार्थ—यद्यपि ससार मे अनेक उत्तमोत्तम गुण हैं और वे भाति भाति के सुख प्रदान करते हैं। तथापि ज्ञानदृष्टि से देखने पर वे शुद्धचिद्रूप की स्मृति के बराबर कीमती नहीं हो सकते। शुद्धचिद्रूप की स्मृति ही सर्वोत्तम है ॥२१॥

तीर्थतां भूः पदैः स्पृष्टा नाम्ना योऽघचयः क्षयम्।
सुरौघो याति दासत्वं शुद्धचिद्रक्तचेतसाम् ॥२२॥

अर्थ—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप के धारक हैं—उसके ध्यान में अनुरक्त हैं। उनके चरणों से स्पर्श की हुई भूमि तीर्थ—अनेक मनुष्यों को ससार से तारनेवाली—हो जाती है, उनके नामके लेनेसे समस्त पापों का नाश

हो जाता है और अनेक देव उनके दास हो जाते हैं ॥२२॥

शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य शुद्धोन्योऽन्यस्य चिंतनात् ।
लोह लोहाद् भवेत्पात्रं सौवर्णं च सुवर्णतः ॥२३॥

अर्थ—जिस प्रकार लोह से लोह का पात्र और स्वर्ण से स्वर्ण का पात्र बनता है। उसी प्रकार शुद्ध-चिद्रूप की चिंता करने से आत्मा शुद्ध और अशुद्ध चिद्रूप के ध्यान से अशुद्ध होता है।

भावार्थ—कारण जैसा होता है कार्य भी उससे वैसा ही पैदा होता है। जिस प्रकार लोह पात्रका कारण लोह है, इसलिये उससे लोह का पात्र, और सुवर्णपात्र का कारण सुवर्ण है, इसलिये उससे सुवर्ण का ही पात्र बन सकता है। उसी प्रकार आत्मा के शुद्ध होने मे शुद्धचिद्रूप की चिंता प्रधान कारण है, इसलिये उससे आत्मा शुद्ध होता है और अशुद्धचिद्रूप की चिंता से अशुद्ध आत्मा होता है। क्योंकि आत्मा के अशुद्ध होने में अशुद्ध चिद्रूप की चिंता कारण है ॥२३॥

मग्ना ये शुद्धचिद्रूपे ज्ञानिनो ज्ञानिनो पि ये ।
प्रमादिनः स्मृतौ तस्य तेपि मग्ना विधेर्वशात् ॥२४॥

अर्थ—जो शुद्धचिद्रूप के ज्ञाता हैं, वे भी उसमें मग्न हैं। और जो उसके ज्ञाता होनेपर भी उसके स्मरण करने में प्रमाद करनेवाले हैं, वे भी उसमे मग्न हैं। अर्थात् स्मृति न होनेपर भी उन्हें शुद्धचिद्रूप का ज्ञान ही आनद प्रदान करनेवाला है ॥ २४ ॥

सप्तधातुमयं देहं मलमूत्रादिभाजनम् ।
पूज्यं कुरु परेषां हि शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥२५॥

इति मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषण विरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानोत्साह-
सपादको द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

अर्थ—यह शरीर रक्त वीर्य मज्जा आदि सात धातु स्वरूप है। मलमूत्र आदि अपवित्र पदार्थों का घर है; इसलिये उत्तम पुरुषो को चाहिये कि वे इस निकृष्ट और अपवित्र शरीर को भी शुद्धचिद्रूप की चिन्ता से दूसरों के द्वारा पूज्य और पवित्र बनावें।

भावार्थ—यह शरीर अपवित्र पदार्थों से उत्पन्न और अपवित्र पदार्थों का घर है, इसलिये शरीर को पवित्र बनाने के लिये विद्वानो को अवश्य शुद्धचिद्रूप का ध्यान करना चाहिये ॥२५॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण निर्मित तत्वज्ञानतरंगणी में शुद्धचिद्रूप के ध्यान का उत्साह प्रदान करनेवाला दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय ।

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मदिरार्चाविधाना-
च्चतुर्धा दानाद्वाध्ययनखजयतो ध्यानतः संयमाच्च ।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधेः क्षांतिमुख्यप्रधर्मात्,
क्रमाच्चिद्रूपाप्ति र्भवति जगति ये वांछकास्तस्य तेषाम् ॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति करना चाहते हैं, उन्हें जिनेन्द्र का अभिषेक करने से, उनकी स्तुति पूजा जप करने से, मंदिर की पूजा और उसके निर्माण से, आहार औषध अभय और शास्त्र–चार प्रकार के दान देने से, शास्त्रों के अध्ययन से, इंद्रियों के विजय से, ध्यान से, संयम से, व्रत से, शील से, तीर्थआदि में गमन करने से और उत्तम क्षमा आदि धर्मों के धारने से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—वास्तव में देखा जाय तो शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है। परन्तु भगवान का अभिषेक उनकी स्तुति और जप आदि भी चिद्रूप की प्राप्ति मे कारण हैं। क्योंकि अभिषेक आदि के करने से शुद्धचिद्रूप की ओर दृष्टि जाती है, इसलिये शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषियों को अवश्य भगवान का अभिषेक स्तुति आदि करने चाहिये ॥१॥

देवं श्रुतं गुरुं तीर्थं भदतं च तदाकृतिम् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुत्वाद् भजते सुधीः ॥२॥

अर्थ—देव शास्त्र गुरु तीर्थ और मुनि तथा इन सबकी प्रतिमा शुद्धचिद्रूप के ध्यान मे कारण हैं। बिना इनकी पूजा सेवा किये शुद्धचिद्रूप की ओर ध्यान जाना सर्वथा दुस्साध्य है; इसलिये शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वान् अवश्य देव आदि की सेवा उपासना करते हैं ॥२॥

अनिष्टान् खहृदामर्थानिष्टानपि भजेत्त्यजेत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्याने सुधीर्हेतूनहेतुकान् ॥३॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप के ध्यान करते समय इंद्रिय और मन के अनिष्ट भी पदार्थ यदि उसकी प्राप्ति में

कारण स्वरूप पडे तो उनका आश्रय कर लेना चाहिये। और इंद्रिय मन को इष्ट होनेपर भी यदि वे उसकी
प्राप्ति में कारण न पडें बाधक पड़ें, तो उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ—ससार मे पदार्थ दो तरह के हैं, इष्ट और अनिष्ट। जो पदार्थ मन और इद्रियों को प्रिय हैं, वे
इष्ट हैं और जो अप्रिय हैं, वे अनिष्ट हैं। इनमे अनिष्ट रहने पर भी जो पदार्थ शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति मे कारण हों,
उनका अवलम्बन कर लेना चाहिये। और जो इष्ट होनेपर भी उसकी प्राप्ति में कारण न हों, उनका सर्वथा त्याग
कर देना चाहिये। क्योंकि उनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥३॥

मुंचेत्समाश्रयेच्छुद्धचिद्रूपस्मरणेऽहितम्।
हितं सुधी प्रयत्नेन द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥४॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप पदार्थों म जो पदार्थ शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने म हितकारी न हो,
उसे छोड देना चाहिये और जो उसकी प्राप्ति मे हितकारी हो, उसका बडे प्रयत्न से आश्रय करना चाहिये।

भावार्थ—कोई द्रव्य क्षेत्र काल और भाव (परिणाम) ऐसे आकर उपस्थित हो जाते हैं कि शुद्धचिद्रूप
के स्मरण में विघ्न कारक बनजाते हैं; इसलिये विद्वानो को चाहिये कि इस प्रकार के पदार्थों का सर्वथा त्याग

करदें। परतु बहुत से द्रव्य क्षेत्र आदि शुद्धचिद्रूप के स्मरण मे अनुकूल हितकारी भी होते हैं; इसलिये उनका कडीरीति से आश्रय लें ॥४॥

सगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र नि स्पृहाः ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञानी हैं–हित अहित का पूर्ण ज्ञान रखते हैं, वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये अन्य समस्त पदार्थों मे सर्वथा निस्पृह हो समस्त परिग्रह का त्याग करदेते हैं और एकान्त स्थान पर्वत की गुफाओं मे जाकर रहते हैं। ५॥

स्वल्पकार्यकृतौ चिंता महावज्रायते ध्रुवम्।
मुनीनां शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वतभंजने ॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार वज्र पर्वत को चूर्ण २ कर देता है। उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप की चिंता करने वाला है, वह यदि अन्य किसी थोड़े से भी कार्य के लिये जरा भी चिंता कर बैठता है, तो शुद्धचिद्रूप के ध्यान से सर्वथा विचलित हो जाता है।

भावार्थ– शुद्धचिद्रूप का ध्यान उसी समय हो सकता है, जिस समय किसी बात की चिंता हृदय मे स्थान न पावे। यदि शुद्धचिद्रूप के ध्याते समय किसी प्रकार की चिंता आ उपस्थित हुई, तो वह ध्यानही नष्ट हो जाता है; इसलिये विद्वानों को चाहिये कि शुद्धचिद्रूप का ध्यान करते समय अन्य किसी भी चिंता को अपने हृदय में जरा भी न फटकने दे ॥६॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानभानुरत्यंतनिर्मलः ।
जनसंगतिसंजातविकल्पाब्दैस्तिरोभवेत् ॥७॥

अर्थ—यह शुद्धचिद्रूपका ध्यान रूपी सूर्य महानिर्मल और देदीप्यमान है। यदि इसपर स्त्री पुत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुए विकल्परूपी मेघ का पर्दा पड जायगा तो यह ढक ही जायगा।

भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि की चिंताएँ शुद्धचिद्रूप के ध्यान में विघ्न करनेवाली हैं। चिंता होते ही ध्यान सर्वथा उखड जाता है, इसलिये शुद्धचिद्रूप के ध्यानी को तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये ॥७॥

अभव्ये शुद्धचिद्रूपध्यानस्य नोद्भवो भवेत् ।
वंध्याया किल पुत्रस्य विषाणस्य खरे यथा ॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार बांझ के पुत्र नहीं होता और गधे के सींग नहीं होते। उसी प्रकार अभव्य के शुद्ध चिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ—अभव्य को मोक्ष स्वर्ग आदि का श्रद्धान नहीं होता। किन्तु पित्तज्वर वाले को मीठा भी दूध जिस प्रकार कडुवा लगता है। उसी प्रकार अभव्य को भी सब धार्मिक बातें विपरीत ही भासती हैं; इसलिये बांझ के पुत्र और गधे के सींग होना जैसे असंभव है। उसी प्रकार अभव्य के चिद्रूप का ध्यान होना भी सर्वथा असंभव है ॥८॥

दूरभव्यस्य नो शुद्धचिद्रूपध्यानसंरुचिः ।
यथाऽजीर्णविकारस्य न भवेदन्नसंरुचिः ॥९॥

अर्थ— जिसको अजीर्ण का विकार है–खाया पीया नहीं पचता, उसकी जिस प्रकार अन्न मे रुचि नहीं होती। उसी प्रकार जो दूर भव्य है, उसकी भी शुद्धचिद्रूप के ध्यान मे प्रीति नहीं हो सकती ॥९॥

भेदज्ञानं विना शुद्धचिद्रूपज्ञानसंभवः ।
भवेन्नैव यथापुत्रसंभूतिर्जनकं विना ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार कि पुरुष के बिना स्त्री के पुत्र नहीं हो सकता। उसी प्रकार बिना भेदविज्ञान के शुद्धचिद्रूप का ध्यान भी नहीं हो सकता।

भावार्थ—यह मेरा आत्मा शुद्धचैतन्य स्वरूप है और शरीर आदि पर तथा जड़ हैं, ऐसे ज्ञान का नाम भेदविज्ञान है। जबतक ऐसा ज्ञान नहीं होता तबतक शुद्धचिद्रूप का भी ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये शुद्ध-चिद्रूप के ज्ञान मे भेदविज्ञान प्रधान कारण है ॥१०॥

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ॥११॥

अर्थ—जिस प्रकार बिना माता के पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले समस्त परिग्रहों म बिना ममता त्यागे शुद्धचिद्रूप का ध्यान भी होना असंभव है। अर्थात् पुत्र की प्राप्ति मे जिस प्रकार माता कारण है। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के ध्यान म स्त्री पुत्र आदि मे निर्ममता (ये मेरे नहीं हैं ऐसा भाव) होना कारण है ॥११॥

तत्तस्य गतचिंता निर्जनताऽऽसन्नभव्यता।

भेदज्ञान परस्मिन्निर्ममता ध्यानहेतवः ॥१२॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि चिंता का अभाव एकांत स्थान, आसन्नभव्यपना, भेदविज्ञान और दूसरे पदार्थों मे निर्ममता ये शुद्धचिद्रूप के ध्यान मे कारण हैं–विना इनके शुद्धचिद्रूप का कदापि ध्यान नही हो सकता ॥१२॥

नृस्त्रीतिर्यक्सुराणां स्थितिगतिवचनं नृत्यगानं शुचादि
क्रीडा क्रोधादि मौन भयहसनजरारोदनस्वापशोकाः ।
व्यापाराकाररोगं नुतिनतिकदनं दीनतादुःखशकाः,
शृंगारादीन् प्रपश्यन्नशनमिह भवे नाटकं मन्यते ज्ञः ॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञानी है–ससार की वास्तविक स्थिति का जानकार है वह, मनुष्य स्त्री तिर्यंच और देवों के स्थिति गति और वचन को नृत्य और गान को शोक आदि को क्रीड़ा क्रोध आदि और मौन को भय हसी बुढ़ापा रोना सोना व्यापार आकृति रोग स्तुति नमस्कार पीडा दीनता दुःख शका भोजन और शृङ्गार आदि को ससार मे नाटक के समान मानता है।

भावार्थ— जो मनुष्य अज्ञानी हैं वे तो मनुष्य स्त्री देव देवागना आदि के रहन सहन आदि को अच्छा बुरा समझते हैं। शोक और आनन्द आदि के उपस्थित हो जाने पर दु खी सुखी हो जाते हैं। परन्तु ज्ञानी मनुष्य यह जानकर कि नाटक में कभी मनुष्य राजा कभी रक, और कभी मनुष्य स्त्री आदि का वेष धारण कर लेता है। उसी प्रकार इस जीव के कभी मनुष्य आदि पर्याय कभी रोग शोक और कभी दु.ख सुख सदा हुआ करते हैं–ससार का यह स्वभाव ही है, दु ख सुख नहीं मानता ॥१३।

चक्रीन्द्रयो सदसि सस्थितयो· कृपा स्या-
त्तद्भार्ययोरतिगुणान्वितयोर्घृणा च ।
सर्वोत्तमेन्द्रियसुखस्मरणेऽतिकष्ट-
यस्योद्धचेतसि स तत्त्वविदां वरिष्ठ' ॥१४॥

अर्थ— जिस मनुष्य के पवित्र हृदय म सभा १ सिंहासन पर विराजमान हुए चक्रवर्ती और इन्द्र के ऊपर दया है। शोभा मे रतिकी तुलना करनेवाली इन्द्राणी और चक्रवर्ती की पटरानी पर घृणा है। और जिसे सर्वोत्तम इन्द्रियों क सुखों का स्मरण होते ही अतिकष्ट होता है। वह मनुष्य तत्त्वज्ञानियों मे उत्तम तत्त्वज्ञानी कहा जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि चक्रवर्ती और इन्द्र आज सिंहासन पर बैठे हैं, कल अशुभ कर्म के उदय से मरकर कुगति जायेंगे और लक्ष्मी नष्ट हो जायगी, उनपर दया करता है। यद्यपि चक्रवर्ती और इन्द्र की स्त्रियां महामनोज्ञ होती हैं, तथापि विषय संबन्धी सुख महानिकृष्ट और दुख देनेवाला है, यह जानकर वह उनको घृणा की दृष्टि से देखता है। और उत्तमोत्तम इंद्रियों के सुखों को परिणाम में दुखदायी समझ उनका स्मरण करते ही दुःख मान लेता है ॥ १४ ॥

रम्यं वल्कलपर्णमंदिरकरीरं कांजिकं रामठं–
लोहं ग्रावनिपादकुश्रुतमटेद् यावन्न यात्यंवरम्।
सौधं कल्पतरुं सुधां च तुहिनं स्वर्णं मणिं पंचमं-
जैनीवाचमहो तथेंद्रियभवं सौख्यं निजात्मोद्भवम् ॥१५॥

अर्थ—जबतक मनुष्य को उत्तमोत्तम वस्त्र महल कल्पवृक्ष अमृत कपूर सोना मणि पंचमस्वर जिनेन्द्र भगवान की वाणी और आत्मीक सुख प्राप्त नहीं होते, तभी तक वह वक्कल व पत्तों का (सामान्य) घर करीर कांजी हींग लोहा पत्थर निषादस्वर कुशास्त्र और इंद्रिय जन्य सुख को उत्तम और कार्यकारी समझता है। परंतु उत्तम वस्त्र आदि के प्राप्त होते ही उसको वक्कल आदि में सर्वथा घृणा हो जाती है—उनको वह जरा भी मनो-

हर नहीं मानता।

भावार्थ—मनुष्य जबतक नीची दशा में रहता है और हीन पदार्थों से संबन्ध रखता है, तबतक वह उन्हीं को लोकोत्तर मानता है। परतु जब कि वह उन्नत और उत्तम पदार्थों का लाभ कर लेता है, तो उसे वे हीन पदार्थ बिल्कुल बुरे लगने लगते हैं। उसी प्रकार जबतक यह आत्मा कर्मों से मलिन रहता है तबतक कर्म जनित पदार्थों को ही उत्तम पदार्थ समझता है। परतु शुद्धात्मा की प्राप्ति होते ही उसे इन्द्रिय जन्य सुखदायक भी पदार्थों से सर्वथा घृणा हो जाती है॥१५॥

केचिद् राजादिवार्त्तां विषयरतिकलाकीर्तिरैप्राप्तिचिंतां-
सतानोद्भूत्युपाय पशुनगविगवां पालन चान्यसेवाम्।
स्वापक्रीडौषधादीन् सुरनरमनसां रजनं देहपोष-
कुर्वतोऽस्यति कालं जगति च विरला स्वस्वरूपोपलब्धिम् ॥ १६ ॥

अर्थ— ससार मे अनेक मनुष्य राजा आदि के गुण गानकर काल व्यतीत करते हैं। कई एक विषय रति कला कीर्ति और धन की चिन्ता म समय बिताते हैं। और बहुत से सतान की उत्पत्ति का उपाय, पशु वृक्ष पक्षी गौ बैल आदि का पालन, अन्य की सेवा, शयन, क्रीडा, औषधि आदिका सेवन, देव मनुष्यों के मनका

रजन और शरीर का पोषण करने २ अपनी समस्त आयु के काल को समाप्त कर देते हैं। इसलिये जिनका समय स्वस्वरूप-शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति में व्यतीत हो, ऐसे मनुष्य संसार में विरले ही हैं।

भावार्थ—संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के होते हैं। कोई राजकथा करना अच्छा समझते हैं। कोई कोई रात दिन इस चिन्ता मे लगे रहते हैं, कि हमको विषय सुख कला कीर्ति और धन कैसे मिले? अनेकों की यह कामना रहती है कि पुत्र कैसे हो? इसलिये वे पुत्र की उत्पत्ति के उपाय ही सोचते रहते हैं। कोई गौ बैल आदि पशुओं के पालन करने मे ही आनद मानते हैं। अनेक दूसरों की सेवा करना ही उत्तम समझते हैं। बहुत से सोना खेलना औषधि आदि के सेवन करने में ही संतोष मानते हैं। किसी २ मनुष्य का चित्त इसी चिन्ता से व्याकुल रहा करता है कि अमुक देव वा मनुष्य हमसे प्रसन्न रहें। और अनेक मनुष्य अपने शरीर के ही भरण पोषण मे लगे रहते हैं। सार यह है कि इनका समस्त जीवन इन्हीं कामों मे व्यतीत होता रहता है। ये शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नही कर सकते, इसलिये शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति नितरा दुर्लभ है, और उसको विरले ही मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं॥१६॥

वाचांगेन हृदा शुद्धचिद्रूपोहमिति ब्रुवे।
सर्वदानुभवामीह स्मरामीति त्रिधा भजे॥१७॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप के विषय में सदा यह विचार करते रहना चाहिये–कि 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा मन वचन काय से सदा कहता हूं तथा अनुभव और स्मरण करता हूं।

भावार्थ—"मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा प्रतिसमय कहने से अनुभव और स्मरण करने से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये दृढ प्रवृत्ति होती चली जाती है–उत्साह कम नहीं होता, इसलिये शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये अवश्य विद्वानों को ऐसा करते रहना चाहिये ॥१७॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुभूतां क्रियां भजेत्।
सुधीः कांचिच्च पूर्वं तद्ध्याने सिद्धे तु तां त्यजेत् ॥१८॥

अर्थ - जबतक शुद्धचिद्रूप का ध्यान सिद्ध न हो सके, तबतक विद्वान को चाहिये कि उसकी कारण रूप क्रिया का अवश्य आश्रय ले। परन्तु उस ध्यान के सिद्ध होते ही उस क्रिया का सर्वथा त्याग करदे।

भावार्थ—जिस प्रकार चित्रकला सीखने का अभिलाषी मनुष्य पहिले रद्दी कागजों पर चित्र बनाना सीखता है। पश्चात् चित्रकला में प्रवीण हो जानेपर रद्दी कागजों पर चित्र खींचना छोड़ उत्तम कागजोंपर खींचने लग जाता है। उसी प्रकार जो मनुष्य प्रथम ही प्रथम शुद्धचिद्रूप का ध्यान करता है, उसका मन स्थिर नहीं रह सकता, इसलिये उसे ध्यान की सिद्धि के लिये भगवान की प्रतिमा आदि सामने रखलेना चाहिये। परन्तु जिस समय ध्यान सिद्ध हो जाय उस समय उनकी कोई आवश्यकता नहीं। सर्वथा उनका त्याग करदेना चाहिये ॥१८॥

अंगस्यावयवैरंगमगुल्याद्यैः परामृशेत् ।
मत्याद्यैः शुद्धचिद्रूपावयवैस्त तथा स्मरत् ॥१६॥

अर्थ – जिस प्रकार शरीर के अवयव अंगुली आदि से शरीर का स्पर्श किया जाता है। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के अवयव जो मतिज्ञान आदि है, उनसे उसका स्मरण करना चाहिये ।।१६।

ज्ञेये दृश्ये यथा स्वे स्वे चित्त ज्ञातरि दृष्टरि ।
दद्याच्चेन्ना तथा विंदेत्परं ज्ञान च दर्शनम् ॥२०॥

अर्थ— मनुष्य जिस प्रकार घट पट आदि ज्ञेय और दृश्य पदार्थों मे अपने चित्त को लगाता है। उसी प्रकार यदि वह शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये ज्ञाता और दृष्टा आत्मा मे भी अपना चित्त लगावे, तो उसे स्वस्वरूप शुद्धदर्शन और ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाय ॥२ ॥

उपायभूतमेवात्र शुद्धचिद्रूपलब्धये ।
यत् किंचित्तत् प्रियं मेऽस्ति तदर्थित्वान्नचापरं ॥२१॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को सदा ऐसा विचार करते रहना चाहिये कि जो पदार्थ

शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति मे कारण है, वह मुझे प्रिय है। क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का अभिलाषी हू और जो पदार्थ उसकी प्राप्ति मे कारण नहीं है, उससे मेरा प्रेम भी नहीं है ॥२१॥

चिद्रूपः केवल शुद्ध आनदात्मेत्यह स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेश श्लोकार्द्धेन निरूपित ॥२२॥

अर्थ—यह चिद्रूप अन्य द्रव्यों के ससर्ग से रहित केवल है, शुद्ध है और आनन्दस्वरूप है, ऐसा मैं स्मरण करता हू। क्योंकि जो यह आधे श्लोक म कहागया भगवान सर्वज्ञ का उपदेश है—वह ही मोक्ष का कारण है ॥२२॥

बहिश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानक वृथा ।
अधस्य नर्त्तनं गान बधिरस्य यथा भुवि ॥२३॥

अतश्चितः पुर शुद्धचिद्रूपाख्यानक हित-
बुभुक्षिते पिपासार्त्तेऽन्न जल योजित यथा ॥२४॥

अर्थ—जिस प्रकार अन्धे के सामने नाचना और बहिरे के सामने गीत गाना व्यर्थ है। उसी प्रकार

बहिरात्मा के सामने शुद्धचिद्रूप की कथा भी कार्यकारी नहीं है। परन्तु जिस प्रकार भूखे के लिये अन्न, प्यासे के लिये जल हितकारी है। उसी प्रकार अन्तरात्मा के सामने कहागया शुद्धचिद्रूप का उपदेश भी परमहित प्रदान करनेवाला है ॥२०॥२४॥

उपाया बहवः सांति शुद्धचिद्रूपलब्धये ।
तद्ध्यानेन समो नाभूदुपायो न भविष्यति ॥२५॥

इति मुमुक्षुभट्टारक श्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्त्युपायनिरूपणोनाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अर्थ—अन्तमें ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के बहुत से उपाय हैं। तथापि उनमें ध्यानरूप उपाय की तुलना करनेवाला न कोई उपाय हुआ है, न है और न होगा। इसलिये जिन्हे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति की अभिलाषा हो, उन्हे चाहिये कि वे सदा उसका ही नियम से ध्यान करें ॥२५॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का उपाय वर्णन करनेवाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

न क्लेशो न धनव्ययो न गमन दशांतरे प्रार्थना,
केपाचिन्न वलक्षयो न न भय पीडा परस्यापि न ।
सावद्य न न रोगजन्मपतन नैवान्यसेवा न हि,
चिद्रूपस्मरणे फलं वहु कथ तन्नाद्रियते वुधा ॥१॥

अर्थ—इस परमपावन चिद्रूप के स्मरण करने म न किसी प्रकार का क्लेश उठाना पड़ता है, न धन का व्यय, देशातर मे गमन, और दूसरे से प्रार्थना करनी पडती है। किसी प्रकार की शक्ति का क्षय, भय, दूसरे को पीड़ा, पाप, रोग, जन्म-मरण और दूसर की सेवा का दुःख भी नहीं भोगना पड़ता, इसलिये अनेक उत्तमोत्तम फलों के धारक भी इस शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने म हे विद्वानो ! तुम क्यों उत्साह और आदर नहीं करते ? यह नहीं जान पडता ।

भावार्थ संसार म वहुत से पदार्थ ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति म अनेक क्लेश भोगने पडते हैं, धन-व्यय, दूसरे देश मे गमन दूसर से प्रार्थना, शक्ति का क्षय, भय, दूसरों को पीड़ा, नानाप्रकार के पाप रोग, जन्म,

मरण और अन्य सेवा आदि निकृष्ट कार्यों का भी सामना करना पड़ता है। परन्तु शुद्धचिद्रूप के स्मरण में उपर्युक्त किसी बात का दुःख भोगना नहीं पड़ता; इसलिये आत्मिक सुख के अभिलाषी विद्वानों को चाहिये कि वे अचिन्त्य सुख प्रदान करनेवाले इस शुद्धचिद्रूप का अवश्य स्मरण करें।

दुर्गमा भोगभूः स्वर्गभूमिर्विद्याधरावनिः ।
नागलोकधरा चातिसुगमा शुद्धचिद्धरा ॥२॥
तत्साधने सुखं ज्ञानं मोचनं जायते सम-
निराकुलत्वमभयं सुगमा तेन हेतुना ॥३॥

अर्थ—संसार में भोगभूमि, स्वर्गभूमि, विद्याधरलोक और नागलोक की प्राप्ति तो दुर्गम दुर्लभ है। परन्तु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति अतिसरल है। क्योंकि चिद्रूप के साधन में तो सुख ज्ञान मोचन निराकुलता और भय का नाश ये साथ साथ होते चले जाते हैं और भोगभूमि आदि के साधन में बहुत काल के बाद दूसरे जन्म में होते हैं।

भावार्थ—भोगभूमि स्वर्गभूमि विद्याधरलोक और नागलोक की प्राप्ति संसार में अतिकष्टसाध्य है। हर एक मनुष्य भोगभूमि आदि की प्राप्ति कर नहीं सकता और जो कर भी सकते हैं, वे तप आदि आचरण करने

से बहुत दिनों के बाद परजन्म मे कर सकते हैं। और तभी वे वहा का सुख भोग सकते हैं। परन्तु जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप के स्मरण और ध्यान करनेवाले हैं, वे बिना ही किसी कष्ट के साथ ही साथ उसका सुख भोग लेते हैं, उसे प्राप्त करलेते हैं, इसलिये विद्वानो को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप का स्मरण ध्यान अवश्य करें ॥२-३॥

अन्नाश्मागुरुनागफेनसदृशं स्पर्शेन तस्यांशतः—
कौमाराम्रकसीसवारिसदृशं स्वादेन सर्वं वरं ।
गंधेनैव घृतादि वस्त्रसदृशं दृष्ट्या च शब्देन च—
कर्कर्यादि च मानसेन च यथा शास्त्रादि निश्चीयते ॥४॥

स्मृत्या दृष्टनगाब्धिभूरुहपुरीतिर्यग्नराणां तथा—
सिद्धांतोक्तसुराचलहृदनदीद्वीपादिलोकस्थिते ।
स्वार्थानां कृतपूर्वकार्यविततेः कालत्रयाणामपि—
स्वात्मा केवलचिन्मयोऽशकलनात् सर्वोऽस्य निश्चीयते ॥५॥ युग्मम्॥

अर्थ—जिस प्रकार अन्न पाषाण अगुरु और अफीम के समान पदार्थ के कुछ भाग के स्पर्श करने से, इलायची आम कसीस और जल के समान पदार्थ के कुछ अंश के स्वाद से, घी आदि के समान पदार्थ

के कुछ अंश सूँघने से, वस्त्र सरीखे पदार्थ के किसी अंश को आंख के देखने से कर्करी (झालर) आदि के शब्द श्रवण से, और मन से शास्त्र आदि के समस्त स्वरूप का निश्चय कर लिया जाता है। उसी प्रकार पहिले देखे हुए पर्वत समुद्र वृक्ष नगरी गाय भैंस आदि तिर्यंच और मनुष्यों के, शास्त्रों से जाने गये मेरु ह्रद-तालाब नदी और द्वीप आदि लोक की स्थिति के, पहिले अनुभूत इन्द्रियों के विषय और किये गये कार्यों के, एवं तीनों कालों के स्मरण आदि कुछ अंशों से अखंड चैतन्यस्वरूप के पिंडस्वरूप इस आत्मा का भी निश्चय कर लिया जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पाषाण इलायची घी झालर आदि पदार्थों के समान पदार्थों में पाषाण आदि के समान ही स्पर्श रस गंध आदि गुण रहते हैं; इसलिये उनके स्पर्श रस गंध या शब्द आदि किसी अंश से उनके समस्त स्वरूप का निश्चय कर लिया जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि चेतनाओं का पिंडस्वरूप है, क्योंकि इसे पहिले देखे पर्वत समुद्र वृक्ष आदि पदार्थों का स्मरण होता है। शास्त्र में वर्णन किये मेरु ह्रद नदी आदि के स्वरूप को यह जानता है। पहिले अनुभूत इन्द्रियों के विषय और किये गये कामों का भी इसे स्मरण रहता है, भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों को भी भले प्रकार जानता है, इसलिये स्मरण आदि कुछ अंशों के निश्चय से इसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि समस्त स्वरूप का निश्चय हो जाता है, क्योंकि स्मृति आदि अंश सिवा इसके दूसरे किसी पदार्थ में नहीं रहते ॥४-५॥

द्रव्य क्षेत्र च काल च भावमिच्छेत् सुधीः शुभम् ।
शुद्धचिद्रूपसम्प्राप्तिहेतुभूत निरतरम् ॥६॥
न द्रव्येण न कालेन न क्षेत्रेण प्रयोजनम् ।
केनचिन्नैव भावेन लब्धे शुद्धचिदात्मके ॥७॥

अर्थ —जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप के अभिलाषी है उन्हे चाहिये कि व उसकी प्राप्ति के अनुपम कारण शुद्ध द्रव्य क्षेत्र काल भाव का सदा आश्रय करें। परन्तु जिस समय शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जाय, उस समय द्रव्य क्षेत्र काल भाव के आश्रय करने की कोई आवश्यकता नहीं।

भावार्थ—कोलाहलपूर्ण और अशुभ द्रव्य क्षेत्र काल भाव के आश्रय से कभी शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिये उसके इच्छुक विद्वानो को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये शुभ और अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव का आश्रय करें। हा, जब शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जाय, तब शुभ द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय करने की कोई आवश्यकता नहीं। ६-७॥

परमात्मा परंब्रह्म चिदात्मा सर्वदृक् शिवः ।
नामानीमान्यहो शुद्धचिद्रूपस्यैव केवलम् ॥८॥

अर्थ—परमात्मा परंब्रह्म चिदात्मा सर्वदृष्टा और शिव ये समस्त नाम उसी शुद्धचिद्रूप के हैं।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप समस्त कर्मों से रहित हो गया है; इसलिये वह परमात्मा और परब्रह्म है। ज्ञान दर्शन आदि चेतनाओ का पिंडस्वरूप है, इसलिये चिदात्मा चैतन्यस्वरूप है। समस्त पदार्थों का देखनेवाला है, इसलिये सर्वदृक्–सर्वदृष्टा है और कल्याण स्वरूप है, इसलिये शिव है।८॥

मध्ये श्रुताब्धेः परमात्मनामरत्नव्रजं वीक्ष्य मया गृहीतम्।
सर्वोत्तमत्वादिदमेव शुद्धचिद्रूपनामातिमहार्घ्यरत्नम् ॥९॥

अर्थ—जैन शास्त्र एक अपार सागर है और उसमे परमात्मा के नामरूपी अनन्तरत्न भरे हुए है। उनमे से भले प्रकार परीक्षाकर और सबो मे अमूल्य उत्तम मान यह 'शुद्धचिद्रूप' नामरूपी रत्न मैंने ग्रहण किया है।

भावार्थ—जिस प्रकार रत्नाकर समुद्र मे अनन्त रत्न विद्यमान रहते हैं और उनमें से किसी एक सार व उत्तम रत्न को ग्रहणकर लिया जाता है। उसी प्रकार जैन शास्त्र मे भी परब्रह्म परमात्मा शुद्धचिद्रूप आदि अगणित परमात्मा के नाम उल्लिखित है। उनम से मैने 'शुद्धचिद्रूप' इस नामको उत्तम और परमप्रिय मान ग्रहण किया है और इसी नाम का मनन व ध्यान करना उत्तम समझा है ॥९॥

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना।

तस्मादन्यत्र में चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥१०॥

अर्थ—संसार में सिवाय चिद्रूप के न तो मैं कुछ हूं और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है। इसलिये शुद्ध चिद्रूप से अन्य किसी पदार्थ में मुझे चिंता करना व्यर्थ है, क्योंकि अन्य पदार्थ की चिंता से मेरे स्वस्वरूप का नाश होता है।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं। मुझसे अन्य समस्त पदार्थ जड़ हैं। जड़ और चेतन मे अति भेद है। कभी जड़ चेतन नहीं हो सकता और चेतन जड़ नहीं हो सकता, इसलिये मुझे जड़ को अपनाना और उसकी चिन्ता न करना चाहिये। क्योंकि जड़ का ध्यान करने से शुद्धचिद्रूप का ध्यान सर्वथा विलीन हो जाता है ॥१०॥

अनुभूय मया ज्ञातं सर्वं जानाति पश्यति।
अयमात्मा यदा कर्मप्रतिसीरा न विद्यते ॥११॥

अर्थ—जिस समय कर्मरूपी पर्दा इस आत्मा के ऊपर से हट जाता है, उस समय यह समस्त पदार्थों को साक्षात् जान देख लेता है। यह बात मुझे अनुभव से मालूम पड़ती है।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकाल से संसार में रुल रहा है और कर्मों से आवृत होने के कारण इसे बहुत ही अल्प ज्ञान होता है। परन्तु जिस समय कर्मों का आवरण हट जाता है, उस समय यह समस्त पदार्थों को हाथ की रेखा के समान स्पष्ट रूपसे देख जान लेता है। यह बात अनुभव सिद्ध है ॥११॥

विकल्पजालजंबालान्निर्गतोऽयं सदा सुखी ।
आत्मा तत्र स्थितो दुःखीत्यनुभूय प्रतीयताम् ॥१२॥

अर्थ—जबतक यह आत्मा नाना प्रकार के सकल्प विकल्परूपी शेवाल (काई) मे फसा रहता है, तबतक यह सदा दुःखी बना रहता है । क्षणभर के लिये भी इसे सुख शांति नहीं मिलती । परन्तु जब इसके सकल्प विकल्प छूट जाते है। उस समय यह सुखी हो जाता है । निराकुलतामय सुख का अनुभव करने लग जाता है । ऐसा स्वानुभव से निश्चय होता है ॥१२॥

अनुभूत्या मया बुद्धमयमात्मा महाबली ।
लोकालोकं यतः सर्वमंतर्नयति केवलः ॥१३॥

अर्थ— यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा अचिंत्य शक्ति का धारक है ऐसा मैंने भले प्रकार अनुभव कर जान लिया है । क्योकि यह अकेला ही समस्त लोक अलोक को अपने मे प्रविष्ट कर लेता है ।

भावार्थ—जिसके ज्ञानमे अनन्त प्रदेशी लोक अलोक दोनों प्रविष्ट हो जाते हैं । जो लोकाकाश अलोकाकाश दोनों को स्पष्टरूप से जानता है । ऐसा यह आत्मा है; इसलिये यह अचिंत्य शक्ति का धारक है । अन्य किसी पदार्थ मे ऐसी सामर्थ्य नहीं । जो कि इस आत्मा की तुलना कर सके ॥१३॥

स्मृतिमेति यतो नादौ, पश्चादायाति किंचन ।
कर्मोदयविशेषोऽयं, ज्ञायते हि चिदात्मनः ॥१४॥

विस्फुरेन्मानसे पूर्वं पश्चान्नायाति चेतसि ।
किंचिद्वस्तु विशेषोऽयं कर्मणः किं न बुध्यते ॥१५॥

अर्थ—यदि यह चैतन्यस्वरूप आत्मा किसी पदार्थ का स्मरण करता है, तो पहिले वह पदार्थ उसके ध्यान मे जल्दी प्रविष्ट नहीं होता। परन्तु एकाग्र हो जब यह बार २ ध्यान करता है, तब उसका कुछ कुछ स्मरण हो आता है। इसलिये इससे ऐसा जान पड़ता है, कि यह आत्मा कर्मों से आवृत है। तथा पहिले ही पदिल यदि किसी पदार्थ का स्मरण भी हो जाय तो उसके जरा ही विस्मरण हो जाने पर फिर बार २ स्मरण करने पर भी उसका स्मरण नहीं आता। इसलिये आत्मा पर कर्मों की माया जान पड़ती है। अर्थात् आत्मा कर्म के उदय से अवनत है, यह स्पष्ट जान पड़ता है।

भावार्थ— यदि शुद्ध निश्चयनय से देखा जाय तो भूत भविष्यत वर्तमान तीनो काल की पर्यायों को हाथकी रेखा के समान देखना जानना इस आत्मा का स्वभाव है। तथापि यह देखने मे आता है, कि यह बहुत थोड़े पदार्थों को जानता देखता है। एवं पहिले देखे सुने किसी एक पदार्थ का स्मरण कर सकता है और

किसी एक का नही। इससे स्पष्ट जान पडता है कि कोई न कोई विरोधी पदार्थ अवश्य इसकी शक्ति का रोकने वाला है और वह शुभ अशुभ कर्म ही है ॥१४।१५॥

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनम् ।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादिहामुत्र सौख्यकृत् ॥१६॥

अर्थ—ससार के समस्त कार्यों मे शुद्धचिद्रूप का चिंतन-मनन ध्यान करना ही सुखसाध्य—सुख से सिद्ध होने वाला है। क्योंकि यह निजाधीन है। इसकी सिद्धि मे अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती और इससे इसलोक और परलोक दोनो लोकों में निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है ॥१६॥

प्रोद्यन्मोहाद् यथा लक्ष्म्यां कामिन्यां रमते च हृत् ।
तथा यदि स्वचिद्रूपे किं न मुक्तिः समीपगा ॥१७॥

अर्थ—मोह के उदय से मत्त जीवका मन जिस प्रकार सपत्ति और स्त्रियोमे रमण करता है। उसी प्रकार यदि यही मन उनसे उपेक्षा कर शुद्धचिद्रूप की ओर झुके—उससे प्रेमकरे तो देखते देखते ही इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

भावार्थ— मन चाहता तो यह है कि मुझे सुख मिले, परन्तु सुखका उपाय कुछ नहीं करता। उल्टा महा-

बलवान मोहनीय कर्म के फंद में फसकर कभी धन उपार्जन करता है और कभी स्त्रियों के साथ रमण करता फिरता है। यदि यह शुद्धचिद्रूप की चिंता करे, तो बहुत ही शीघ्र इसे मोक्ष सुख मिल जाय ॥१७॥

विसृज्य शुद्धचिद्रूपचिंतनं ये प्रमादिनः ।
अन्यत् कार्यं च कुर्वन्ति ते पिबंति सुधां विषम् ॥१८॥

अर्थ—जो आलसी मनुष्य सुख दुःख और उनके कारणों को भले प्रकार जानकर भी प्रमाद के उदय से शुद्धचिद्रूप की चिंता छोड़ अन्य कार्य करने लगजाते हैं, वे अमृत को छोड़कर महा दुःखदायी विषपान करते हैं, इसलिये तत्त्वज्ञों को शुद्धचिद्रूप का सदा ध्यान करना चाहिये ॥१८॥

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखम् ॥१९॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषय भोगने में जीवों का चित्त सदा व्याकुल बना रहता है, इसलिये उन्हें अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं और शुद्धचिद्रूप के ध्यान करने में किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं होती, इसलिए उसकी प्राप्ति से जीवों का परम कल्याण होता है ॥१९॥

रागद्वेषादिजं दुःखं शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ।

याति तच्चिंतनै न स्याद् यतस्तद्गमनं विना ॥२०॥

अर्थ—राग द्वेष आदि के कारण से जीवों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पडते हैं। परन्तु शुद्धचिद्रूप का स्मरण करते ही वे पल भर में नष्ट हो जाते हैं। ठहर नहीं सकते। क्योंकि बिना राग आदि के दूरहुए शुद्ध-चिद्रूप का ध्यान ही नहीं हो सकता ॥२०॥

आनन्दो जायतेऽत्यन्तः शुद्धचिद्रूपचिन्तने।
[illegible] ॥२१॥

[illegible] आनन्द है और उस आनन्द की प्राप्ति सज्जनों [illegible]

याति यस्य यथा पांथस्तदेव [illegible] ॥२२॥

[illegible]—जिस प्रकार पथिक मनुष्य जिस गांव के मार्ग को पकड़कर चलता है, वह उसी [illegible] [illegible] है, उस [illegible] से [illegible] [illegible] सकता। उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्ध-

भावार्थ— मैं अना[illegible]

[illegible] मैंने नाम न जाना हो। उसका [illegible]

[illegible]द्रूप नाम का पदार्थ ऐसा बच गया है, जिस[illegible]

[illegible] न इसका प्रयोजन ही पहिचाना। इसलिये यह मेरे लिये [illegible]

चिद्रूप का स्मरण ध्यान करता है, वह शुद्धचिद्रूप को प्राप्त करता है और जो धन आदि पदार्थों की आराधना करता है, वह उनकी प्राप्ति करता है। परन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि अन्य पदार्थों का ध्यान करे और शुद्धचिद्रूप को पाजाय ॥२२॥

शुद्धचिद्रूपसम्प्राप्तिर्दुर्गमा मोहतोऽगिनाम्।
तज्जयेऽत्यतसुगमा क्रियाकाडविमोचनात ॥२३॥

इति मुमक्षु भट्टारक — श्री ज्ञान भूषण विरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूप प्राप्ति सुगमत्व प्रतिपादको नाम चतुर्थोऽध्याय

अर्थ — यह मोहनीय कर्म महाबलवान है। जो जीव इसके जाल में जकड़े हैं, उन्हें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति दुस्साध्य है, और जिन्होंने इसे जीत लिया है, उन्हें तप आदि क्रियाओं के बिना ही सुलभता से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जाती है ॥२३॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति को सुगम बतलाने वाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पांचवां अध्याय ।

रत्नानामौषधीनां वसनरसरुजामन्नधातूपलानां,
स्त्रीभाश्वानां नराणां जलचरवयसां गोमहिष्यादिकानाम् ।
नामोत्पत्त्यर्घतार्थान् विशदमतितया ज्ञानवान् प्रायशोऽहं
शुद्धचिद्रूपमात्रं कथमहह निजं नैव पूर्वं कदाचित् ॥१॥

अर्थ—मैंने पहिले कई बार रत्न, औषधि, वस्त्र, घी आदि, रस, रोग, अन्न, सोना चादी आदि पाषाण, स्त्री, हस्ती, घोडे, मनुष्य, मगर, मच्छ आदि जलके जीव, पक्षी और गाय, भैंस आदि पदार्थों के नाम उत्पत्ति मूल्य और प्रयोजन भले प्रकार अपनी विशद बुद्धि से जान सुन लिये हैं, परन्तु जो शुद्धचिद्रूप नित्य है, आत्मिक है, उसे आजतक कभी पहिले नहीं जाना है ।

भावार्थ— मैं अनादिकाल से इस ससार मे घूम रहा हूं । मुझसे ससार मे ऐसा कोई पदार्थ नहीं बचा, जिसका मने नाम न जाना हो । उसकी उत्पत्ति के कारण, मूल्य और प्रयोजन न पहिचाने हो, परन्तु एक शुद्धचिद्रूप नाम का पदार्थ ऐसा बच गया है, जिसका न मैंने कभी नाम सुना, न इसकी प्राप्ति के उपाय सोचे, और न इसका प्रयोजन ही पहिचाना । इसलिये यह मेरे लिये अपूर्व पदार्थ है ॥१॥

पूर्वं मया कृतान्येव चिंतनान्यप्यनेकशः ।
न कदाचिन्महामोहात् शुद्धचिद्रूपचिंतनम् ॥२॥

अर्थ—पहिले मैंने अनेकबार अनेक पदार्थों का मनन ध्यान किया है। परन्तु पुत्र स्त्री आदि के मोह से मूढ हो, शुद्धचिद्रूप का कभी आजतक चिंतवन न किया ॥२॥

अनंतानि कृतान्येव मरणानि मयापि न ।
कुत्रचिन्मरणे शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतम् ॥३॥

अर्थ—मैं अनंतबार अनंतभवों में मरा, परन्तु मृत्यु के समय "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा स्मरण कर कभी न मरा ॥३॥

सुरद्रुमा निधानानि चिंतारत्नं द्युसद्गवी ।
लब्धा च न परं पूर्वं शुद्धचिद्रूपसंपदा ॥४॥

अर्थ—मैंने कल्पवृक्ष, खजाने, चिंतामणिरत्न और कामधेनु प्रभृति लोकोत्तर अनन्यलभ्य विभूतियां प्राप्त करलीं। परंतु अनुपम शुद्धचिद्रूप नामकी संपत्ति आजतक कहीं न पाई ॥४॥

द्रव्यादि पंचधा पूर्वं परावर्त्ता अनंतशः ।

कृतास्तेष्वनेकशो न स्व स्वरूपं लब्धवानहम् ॥५॥

अर्थ—मैंने अनादिकाल से इस ससार मे परिभ्रमण किया। इसमे द्रव्य क्षेत्र काल भाव नामके पाचों परिवर्तन भी अनन्तवार पूरे किये। परन्तु स्वस्वरूप-शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति मुझे आज तक एकवार भी न हुई॥५॥

इन्द्रादीनां पदं लब्ध पूर्वं विद्याधरेशिनाम् ।
अनतशोऽहमिंद्रस्य स्वस्वरूपं न केवलम् ॥६॥

अर्थ—मैंने पहिले अनन्तवार इन्द्र नृपति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये। अनतवार विद्याधरों का स्वामी और अहमिन्द्र भी हुआ। परन्तु आत्मिक रूप-शुद्धचिद्रूप का लाभ न कर सका॥६॥

मध्ये चतुर्गतीना च वहुशो रिपवो जिताः ।
पूर्वं न मोहप्रत्यर्थी स्वस्वरूपोपलब्धये ॥७

[illegible] और देव चारों गतियों मे भ्रमण कर मैंने अनेकवार अनेक शत्रुओं को [illegible] मोहरूपी वैरी को कभी नहीं जीता ॥७॥

[illegible]

तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं स्वीकृत तीव्रमोहिना ॥८॥

अर्थ —मैंने ससार म अनतवार कठिन से कठिन अनेक शास्त्रों का भी व्याख्यान कर डाला। बहुत से शास्त्रों का श्रवण भी किया। परन्तु मोह से मूढ़ हो उनमें जो शुद्धचिद्रूप का वर्णन है, उसे कभी स्वीकार न किया ॥८॥

वृद्धसेवा कृता विद्वन्महतां सदसि स्थित. ।
न लब्धं शुद्धचिद्रूपं तथापि भ्रमतो निजम् ॥९॥

अर्थ —इस ससार मे भ्रमणकर मैंने कईवार वृद्धों की सेवा की। विद्वानों की बड़ी बड़ी सभाओं मे भी बैठा। परन्तु अपने आत्मिकस्वरूप शुद्धचिद्रूप का कभी मैंने लाभ न किया ॥९॥

मानुष्यं बहुशो लब्धमार्ये खंडे च सत्कुलम् ।
आदि सहनन शुद्धचिद्रूपं न कदाचन ॥१०॥

अर्थ—मैं आर्यखंड मे बहुतवार मनुष्य हुआ। कईवार उत्तम कुल म भी जन्म पाया। वज्रवृषभनाराच सहनन भी प्राप्त किया। परन्तु शुद्धचिद्रूप की मुझे कभी भी प्राप्ति न हुई ॥१०॥

शौचसयमशीलानि दुर्धराणि तपांसि च ।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमतराधृतवानहम् ॥११॥

अर्थ--मैंने अनतवार शौच सयम शीलों को भी धारण किया। भाति भाति के घोरतम तप भी तपे। परन्तु शुद्धचिद्रूप का कभी स्मरण न किया ॥११॥

एकेन्द्रियादिजीवेषु पर्यायाः सकला धृताः।
अजानता स्वचिद्रूपं परस्पर्शादि जानता ॥१२॥

अर्थ--मैं अनेकबार एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पचेंद्रिय हुआ। एकेंद्रिय आदि मे वृक्ष आदि अनन्तों पर्यायों को धारण किया। दूसरे के स्पर्श रस गंध आदि को भी जाना। परन्तु स्वस्वरूप शुद्ध चिद्रूप आज तक न पाया, न पहिचाना ॥१२॥

ज्ञातं दृष्टं मया सर्वं सचेतनमचेतनम्।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं न कदाचिच्च केवलम् ॥१३॥

अर्थ--मैंने ससार मे चेतन अचेतन समस्त पदार्थों को भले प्रकार देखा जाना। परन्तु केवल शुद्धचिद्रूप नामका एक पदार्थ ऐसा बाकी बच गया, जिसे कभी मैंने न जाना न देखा ॥१३॥

लोकज्ञातिश्रुतसुरनृपतिश्रेयसां भामिनीनां-

यत्यादीनां व्यवहृतिमखिलां ज्ञातवान् प्रायशोऽहम् ।
क्षेत्रादीनामशकलजगतो वा स्वभाव च शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं ध्रुवमिति न कदा संसृतौ तीव्रमोहात् ॥१४॥

अर्थ—संसार में लोक, जाति, शास्त्र, देव और राजाओं की विभूतियों को, व्रतियों और मुनि आदि के समस्त व्यवहार को कई बार मैंने जाना। क्षेत्र, नदी, पर्वत, आदि खण्ड खण्ड और समस्त जगत के स्वभाव को भी पहिचाना। परन्तु मोह की तीव्रता से 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' इसबात को मैंने निश्चय रूप से कभी न जान पाया।

भावार्थ—देखने में आता है कि संसार में प्राय मनुष्य लोक की विभूति और जाति आदि के गौरव को उत्तम समझते हैं और उसीको हितकारी मान, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। परन्तु मैंने इन सबको भले प्रकार जान, देख और प्राप्त करलिया। किन्तु अभी तक मुझे केवल शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति कभी नहीं हुई ॥१४॥

शीतकाले नदीतीरे वर्षाकाले तरोरधः ।
ग्रीष्मे नगशिरोदेशे स्थितो न स्वे चिदात्मनि ॥१५॥

अर्थ—बहुत बार मैं शीतकाल में नदी के किनारे, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे और ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटियों पर स्थित हुआ। परन्तु अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा में मैंने कभी स्थिति न की ॥१५॥

विहितो विविधोपायैः कायक्लेशो महत्तमः ।
स्वर्गादिकांक्षया शुद्धं स्वस्वरूपमजानता ॥१६॥

अर्थ—'मुझे स्वर्ग आदि सुख की प्राप्ति हो' इस अभिलाषा से मैंने अनेक प्रयत्नों से घोरतम कायक्लेश तप भी तपे। परन्तु शुद्धचिद्रूप की ओर जरा भी ध्यान न दिया। स्वर्ग चक्रवर्ती आदि के सुख के सामने मैंने शुद्धचिद्रूप को तुच्छ समझा ॥१६॥

अधीतानि च शास्त्राणि बहुवारमनेकशः ।
मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकम् ॥१७॥

अर्थ—मैंने बहुत बार अनेक शास्त्रों को पढ़ा। परन्तु मोह से मत्त हो शुद्ध चिद्रूप का स्वरूप समझाने वाला एक भी शास्त्र न पढ़ पाया ॥१७॥

न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः ।
लब्धो मन्ये कदाचित्तं विनाऽसौ लभ्यते कथम् ॥१८॥

अर्थ--शुद्धचिद्रूप का स्वरूप प्रतिपादन करने वाला आज तक मुझे कोई गुरु भी न मिला और जब गुरु ही कभी न मिला, तब शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति सर्वथा दुस्साध्य है ॥१८॥

सचेतने शुभे द्रव्ये कृता प्रीतिरचेतने ।
स्वकीये शुद्धचिद्रूपे न पूर्वं मोहिना मया ॥१९॥

अर्थ—अतिशय मोही होकर मैंने, सजीव शुभ द्रव्यों में प्रीति की। अचेतन द्रव्यों को भी प्रीति का करने वाला माना। परन्तु आत्मिक शुद्धचिद्रूप मे कभी प्रेम न किया।

भावार्थ—मुनि आदि शुभ चेतन, द्रव्यों म और भगवान की प्रतिमा आदि शुभ अचेतन द्रव्यों म मैंने गाढ़ प्रेम किया। परन्तु ये पर द्रव्य होने से मेरी अभीष्ट सिद्धि न कर सके। क्योंकि मेरे अभीष्ट की सिद्धि आत्मिक शुद्धचिद्रूप में प्रेम करने से ही हो सकती थी, सो उसम मैंने कभी प्रेम न किया ॥१९॥

दुष्कराण्यपि कार्याणि हा शुभान्यशुभानि च ।
वहूनि विहितानीह नैव शुद्धात्मचिन्तनम् ॥२०॥

अर्थ—इस संसार म मैंने कठिन से कठिन भी शुभ और अशुभ कार्य किये। परन्तु आज तक शुद्धचिद्रूप की कभी चिन्ता न की ॥२०॥

पूर्वं या विहिता क्रिया किल महामोहोदयेनाखिला
मूढत्वेन मयेह तत्र महतीं प्रीतिं समातन्वता ।
चिद्रूपाभिरतस्य भाति विषवत् सा मंदमोहस्य मे,
सर्वस्मिन्नधुना निरीहमनसोऽतो धिग् विमोहोदयम् ॥२१॥

अर्थ— सांसारिक बातों में अतिशय प्रीति को करने वाले, मोहनीय कर्म के उदय से मूढ बन जो मैंने पहिले समस्त कार्य किये हैं, वे इस समय मुझे विष सरीखे दुःखदायी जान पड रहे हैं, क्योंकि इस समय मैं शुद्ध चिद्रूप में लीन हो गया हूं। मेरा मोह मन्द हो गया है, और सब बातों से मेरी इच्छा घट गई है, इस-लिये इस मोहनीय कर्म के उदय के लिये सर्वथा धिक्कार है।

भावार्थ——जबतक मैं मूढ था, हित और अहित को जरा भी नहीं पहिचानता था, तबतक मोह के उदय से मैं जिस काम को करता था, उसे बहुत अच्छा मानता था, परन्तु जब मैं शुद्धचिद्रूप में लीन हुआ। मेरा मोह मन्द हुआ। और समस्त ऐहिक पदार्थों से मेरी इच्छा हटी, तो मोह के उदय से किये वे समस्त कार्य मुझे विष सरीखे मालूम होने लगे। जरा भी उनमें मेरा प्रेम न होने लगा। इसलिये इस मोहनीय कर्म के लिये सर्वथा धिक्कार है ॥२१॥

व्यक्ताव्यक्तविकल्पानां वृंदैरापूरितो भृशम् ।
लब्धस्तेनावकाशो न शुद्धचिद्रूपचिंतने ॥२२॥

इति मुमुक्षु भट्टारक—श्री ज्ञान भूषण विरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्य पूर्वालब्धि प्रतिपादकः पंचमोऽध्यायः ॥५॥

अर्थ—व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के विकल्पों से मैं सदा भरा रहा। कभी मैं अपने संकल्प विकल्पों को दूसरे के सामने प्रगट करता रहा, और कभी मेरे मन में ही वे टकराकर नष्ट होते रहे, इसलिये आजतक मुझे शुद्धचिद्रूप के चिन्तवन करने का कभी भी अवकाश न मिला ॥२२॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की पूर्व में प्राप्ति न होने का वर्णन करनेवाला पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय ।

जानति ग्रहिलं हतं ग्रहगणैर्ग्रस्तं पिशाचैरुजा
भग्नं भूरिपरीषहैर्विकलतां नीतं जराचेष्टितम् ।
मृत्यासन्नतयागतं विकृतितां चेद् भ्रांतिमन्तं परे,

चिद्रूपोऽहमिति स्मृतिप्रवचन जानतु मामागिनः ॥१॥

अर्थ—चिद्रूप की चिन्ता म लीन मुझे अनेक मनुष्य बावला, खोटे ग्रहो से अस्तव्यस्त पिशाचो से ग्रस्त, रोगों से पीडित, भाति २ की परिषहो से विकल, बहुत बुड्ढा, जल्दी मरनेवाला होने के कारण विकृत, और ज्ञानशून्य होघूमने वाला जानतेहैं, सो जानो। परन्तु मे ऐसा नही हू। क्योंकि मुझे इसबात का पूर्ण निश्चय है कि मै शुद्ध चित्स्वरूप हू।

भावार्थ—मै शुद्धचित्स्वरूप हू ऐसा पूर्ण निश्चय हो जाने से, जब मै उसकी प्राप्ति के लिये उपाय करता हू, और ऐहिक कृत्यो से सबध छोड देता हूं। उस समय बहुत से मनुष्य मुझे उदासीन जान पागल कहते है, कोई कहता है इसपर खोटे ग्रहों ने कोप किया है। बहुत से कहते हैं-यह किसी पिशाच की झपट मे आगया है। अनेक कहते हैं-इसे कुछ रोग हो गया है। बहुत से कहते हैं-परीषह सहते सहते यह व्याकुल हो गया है। एक कहता है-अजी यह बुड्ढा हो गया है; इसलिये इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। दूसरा कहता है-अजी इसकी मृत्यु बिल्कुल समीप है, इसलिये इसे कुछ विकार होगया है। और अनेक कहते है-यह व्यर्थ मुह उठाये घूमता फिरता है। परन्तु मेरा ऐसा कहने से कोई नुक्सान नहीं, क्योंकि ये मनुष्य अज्ञानी है। हित अहित को जरा भी न पहिचानने वाले हैं। मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय है, कि मै शुद्धचैतन्य स्वरूप हूँ ॥१॥

उन्मत्तं भ्रान्तियुक्तं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं—

निश्चिन्तं प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं बालकावस्थमेतत् ।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्तैः—
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगद्भाति भेदज्ञचित्ते ॥२॥

अर्थ – जिस समय स्व और पर का भेदविज्ञान हो जाता है, उस समय शुद्धात्म दृष्टि से रहित यह जगत चित्त में ऐसा जान पडने लगता है, मानो यह उन्मत्त और भ्रांत है। इसके दोनों नेत्र बन्द हो गये हैं। यह दिग्विमूढ हो गया है। गाढ़ निद्रा में सो रहा है। मन रहित असैनी मूर्छा में बेहोश, और जल के प्रवाह में बहा चला जा रहा है। बालक के समान अज्ञानी है। मोहरूपी धूर्तों ने अपना सेवक बना लिया है। बावला और व्याकुल बना दिया है।

भावार्थ – यदि शुद्धात्म दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में यह जगत उन्मत्त, भ्रान्त, मूर्च्छित, सुप्त और व्याकुलित आदि है। और स्वपर के ज्ञान होने से यह ऐसा ही भासने लगता है, सो ठीक भी है। क्योंकि भेद विज्ञानी का लक्ष्य शुद्धचिद्रूप की ओर रहता है। और संसार अपने अपने अभीष्ट लक्ष्य को लेकर काम करता है। आपस में दोनों का विरोध है; इसलिये भेद विज्ञानी को संसार की स्थिति अवश्य ही विपरीत जान पड़नी चाहिये ॥२॥

स्त्रीणां भर्ता बलानां हरय इव धरा भूपतीनां स्ववत्सो
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चातकानां घनार्णः ।
कासाराद्यब्धराणाममृतमिव नृणां वा निजौकः सुराणां-
वैद्यो रोगातुराणां प्रिय इव हृदि मे शुद्धचिद्रूपनामा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार स्त्रियों को अपना स्वामी, बलभद्रों को नारायण, राजाओं को पृथ्वी, गौओं को बछड़े, चकवियों को सूर्य, चातकों को मेघ का जल जलचर आदि जीवों को तालाब आदि, मनुष्यों को अमृत, देवों को स्वर्ग, और रोगियों को वैद्य, अधिक प्यारा लगता है। उसी प्रकार मुझे शुद्धचिद्रूप का नाम परमप्रिय मालूम होता है। इसलिये मेरी यह कामना है कि मेरा प्यारा यह शुद्धचिद्रूप सदा मेरे हृदय में विराजमान रहे ॥३।

शापं वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं वधं ताडनं
छेदं भेदगदादिहास्यदहनं निंदाऽऽपदापीडनम् ।
पव्यग्न्यब्ध्यगपंकपवनभूत्क्षेपापमानं भयं-
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरमब्रह्मस्मृतावन्वहम् ॥ ४ ॥

अर्थ-- जिस समय मैं शुद्धचिद्रूप के चिंतवन में लीन होऊ, उस समय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरन्तर शाप देवें, दो। मेरी चीज चुरावें, चुराओ। मेरे शरीर के टुकड़े २ करें मारें, ताड़ें, छेदें, मेरे रोग उत्पन्न करें, हसी करें, जलावें, निन्दा करें, आपत्ति और पीड़ा करें, करो। शिरपर रज डालें, डालो। अग्नि समुद्र, पर्वत, कीचड़, कूए, वन, और पृथ्वी पर फेंको। अपमान और भय करें करो। मेरा कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। अर्थात् वे मेरी आत्मा को किसी प्रकार भी हानि नहीं पहुंचा सकते ॥ ५ ॥

चंद्रार्कभ्रमवत्सदा सुरनदीधारौघसंपातव-

ल्लोकेस्मिन् व्यवहारकालगतिवद् द्रव्यस्य पर्यायवत् ।

लोकाधस्तलवातसगमनवत् पद्मादिकोद्भूतिवत्-

चिद्रूपस्मरणं निरन्तरमहो भयाच्छिवाप्त्यै मम ॥ ५ ॥

अर्थ-- जिस प्रकार संसार में सूर्य चन्द्रमा निरंतर घूमते रहते हैं। गंगा नदी की धार निरन्तर रहती रहती है। घंटा घड़ी पल आदि व्यवहार काल का भी सदा हेर फेर होता रहता है। द्रव्यों की पर्यायें पलटती रहती हैं। लोक के अधो भाग में घनवात तनुवात अंबुवात ये तीनों वातें सदा घूमती रहती हैं। और तालाब आदि में पद्म आदि सदा उत्पन्न होते रहते हैं। उसी प्रकार मेरे मनमें भी सदा शुद्ध चिद्रूप का स्मरण बना रहे। जिससे मेरा कल्याण हो ॥ ५ ॥

इति हृत्कमले शुद्धचिद्रूपोऽहं हि तिष्ठतु ।
द्रव्यतो भावतस्तावद् यावदंगे स्थितिर्मम ॥ ६ ॥

अर्थ—जब तक मै (आत्मा) द्रव्य या भाव किसी रीति से इस शरीर म मौजूद हू । तब तक मेरे हृदय कमल मे ' शुद्धचिद्रूपोहं ' (मै शुद्ध चित्स्वरूप हू) यह बात सदा स्थित रहे । रक्त मज्जा आदि धातुओं का पिण्ड स्वरूप द्रव्य शरीर है और वह मेरा है ऐसा संकल्प भाव शरीर है ॥ ६ ॥

दृश्यंतेऽतीव निःसाराः क्रिया वागंगचेतसाम् ।
कृतकृत्यत्वतः शुद्धचिद्रूपं भजता सता ॥ ७ ॥

अर्थ—मै कृतकृत्य हो चुका हू । ससार मे मुझे करने के लिये कुछ भी काम बाकी नहीं रहा है; क्योंकि मैं शुद्ध चिद्रूप के चिन्तवन में दत्त चित्त हू । इसलिये मन वचन और शरीर की अन्य समस्त क्रियाएँ मुझे अत्यन्त निस्सार मालूम पड़ती हैं। उनमे कोई सार दृष्टि गोचर नहीं होता ॥ ७ ॥

किंचित्कदोत्तमं क्वापि न यतो नियमान्नपः ।
तस्मादनंतशः शुद्धचिद्रूपाय प्रतिक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ— किसी काल और किसी देश मे शुद्धचिद्रूप से बढ़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है, ऐसा मुझे पूर्ण

निश्चय है। इसलिये मैं इस शुद्धचिद्रूप के लिये प्रति समय अनन्त बार नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥

वाह्यांतःसंगमंगं नृसुरपतिपदं कर्मबंधादि भाव-
विद्याविज्ञानशोभाबलभवखसुख कीर्तिरूपप्रतापम्।
राज्यागाख्यागकालास्वकुपरिजन वाग्मनोयानधीद्धा-
तीर्थेशत्व ह्यनित्यं स्मर परमचलं शुद्धचिद्रूपमेकम् ॥९॥

अर्थ—बाह्य आभ्यंतर परिग्रह, शरीर, सुरेंद्र, और नरेंद्र का पद कर्मबंध आदिभाव, विद्या, विज्ञान-कला कौशल, शोभा, बल, जन्म, इन्द्रियों का सुख, कीर्ति, रूप, प्रताप, राज्य, पर्वत, नाम वृक्ष, काल, आस्रव, पृथ्वी, परिवार, वाणी, मन वाहन, बुद्धि, दीप्ति, तीर्थंकरपना आदि सब पदार्थ चलायमान अनित्य हैं। केवल शुद्ध चिद्रूप नित्य है और सर्वोत्तम है। इसलिये सब पदार्थों का ध्यान छोडकर इसी का ध्यान करो।

भावार्थ—जो पदार्थ सदा अपने साथ रहे उसी का ध्यान करना आवश्यक और उचित है। विनाशीक पदार्थों के ध्यान करने से क्या प्रयोजन। क्योंकि वह तो अपनी अवधि के अन्त में नियम से नष्ट हो जायगे। इसलिए उनका ध्यान करना व्यर्थ है और शुद्धचिद्रूप नित्य अविनाशी है। इसलिये उसी का ध्यान कार्यकारी है ॥ ९ ॥

रागाद्या न विधातव्या सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूप तत्र तिष्ठ निराकुलः ॥ १० ॥

अर्थ—शुद्ध चिद्रूप के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भले बुरे किसी भी पदार्थ मे राग द्वेष आदि न करो सबे मे ममता भाव रक्खो । और निराकुल हो अपनी आत्मा मे स्थिति करो ॥ १० ॥

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्त पश्यामि सुखी ततः ।
भव क्षितिर्हितं मुक्ति निर्यासोऽयं जिनागमे ॥११॥

अर्थ– 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' इसलिये मैं उसको देखता हूं और उसीसे मुझे सुख मिलता है। जैन शास्त्र का भी यही निचोड है। उसमे भी यही बात बतलाई है, कि शुद्धचिद्रूप के ध्यान से ससार का नाश और हितकारी मोक्ष प्राप्त होता है ॥११॥

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थ कथ्यते परमार्थतः ॥१२॥

अर्थ—आत्मा स्वस्थ स्वरूप उसी समय कहा जाता है, जबकि वह सदा आनन्दमय केवल अपने शुद्धचिद्रूप मे स्थिति करता है। अन्य पदार्थों मे स्थित रहने पर उसे स्वमे स्थित स्वस्थ कहना भ्रम है।

भावार्थ—स्वस्थ का अर्थ (स्वस्मिन् तिष्ठतीति) अपने में स्थित रहनेवाला होता है। संसार में सिवाय शुद्धचिद्रूप के अन्य कोई भी पदार्थ आत्मा का अपना स्व नहीं। इसलिये सदा आनन्दमय केवल शुद्धचिद्रूप में स्थित रहना ही स्वस्थपना है। किन्तु स्वर्ग देवेन्द्र आदि पदों में विद्यमान आत्मा को स्वस्थ नहीं कह सकते। १२॥

निश्चलः परिणामोऽस्तु स्वशुद्धचिति मामकः।
शरीरमोचनं यावदिव भूमौ सुराचलः ॥१३॥

अर्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में मेरु पर्वत निश्चल रूपसे गड़ा हुआ है। जरा भी उसे कोई हिला चला नहीं सकता। उसी प्रकार मेरी भी यही कामना है कि जब तक इस शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटता तबतक इसी आत्मिक शुद्धचिद्रूप में मेरा भी परिणाम निश्चल रूपसे स्थित रहे। जरा भी इधर उधर न भटके ॥१३॥

सदा परिणतिर्मेऽस्तु शुद्धचिद्रूपकेऽचला।
अष्टमीभूमिकामध्ये शुभा सिद्धशिला यथा ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार प्राग्भारनामा आठवीं पृथ्वी में अत्यन्त शुभ सिद्धशिला निश्चलरूप से विराजमान है। उसी प्रकार मेरे मनकी परिणति भी इस शुद्धचिद्रूप में निश्चल रूपसे स्थित रहे ॥१४॥

चलन्ति सन्मुनीन्द्राणां निर्मलानि मनांसि न।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानात् सिद्धक्षेत्राच्छिवा यथा ॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार कल्याणकारी सिद्ध क्षेत्र से सिद्ध भगवान किसी रीति से चलायमान नहीं हो सकते उसी प्रकार उत्तम मुनियों के निर्मल मन भी शुद्धचिद्रूप के ध्यान से कभी चल विचल नहीं हो सकते ॥१५॥

मुनीश्वरैस्तथाभ्यासो दृढः सम्यग्विधीयते ।
मानसं शुद्धचिद्रूपे यथाऽत्यन्तं स्थिरीभवेत् ॥१६॥

अर्थ—मुनिगण इस रूपसे शुद्धचिद्रूप के ध्यान का अभ्यास करते हैं कि उनका मन शुद्धचिद्रूप के ध्यान मे सदा निश्चल रूपसे स्थित बना रहे। जरा भी इधर उधर चल विचल न हो सके ॥१६॥

सुखे दुःखे महारोगे क्षुधादीनामुपद्रवे ।
चतुर्विधोपसर्गे च कुर्वे चिद्रूपचिंतनम् ॥१७॥

अर्थ—सुख दुःख मे उग्र रोग और भूख प्यास आदि के भयकर उपद्रवो मे तथा मनुष्यकृत देवकृत तिर्यंचकृत और अचेतनकृत चारों प्रकार उपसर्गों मे, मै शुद्धचिद्रूप का ही चिंतवन करता रहूं। मुझे उनके उपद्रव से उत्पन्न वेदना का जरा भी अनुभव न हो ॥१७॥

निश्चलं न कृतं चित्तमनादौ भ्रमतो भवे ।

चिद्रूपे तेन सोढानि महादुःखान्यहो मया ॥१८॥

अर्थ— इस संसार में मैं अनादिकाल से घूम रहा हूं। हाय! मैंने कभी भी शुद्धचिद्रूप में अपना मन निश्चल रूपसे न लगाया। इसलिये मुझे अनंत दुःख भोगने पड़े। अर्थात् यदि मैं संसार के कार्यों से अपना मन हटाकर शुद्धचिद्रूप में लगाता, तो क्यों मुझे अपार वेदना सहनी नहीं पड़ती ॥१८॥

ये याता यान्ति यास्यन्ति निर्वृतिं पुरुषोत्तमाः।
मानसं निश्चलं कृत्वा स्वे चिद्रूपे न संशयः ॥१९॥

अर्थ— जो पुरुषोत्तम-महात्मा मोक्ष गये, जा रहे हैं, और जावेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं, उन्होंने अपना मन शुद्धचिद्रूप के ध्यान में निश्चल रूपसे लगाया, लगाते हैं और लगावेंगे।

भावार्थ— बिना शुद्धचिद्रूप के ध्यान में चित्त लगाये मोक्ष कदापि नहीं मिल सकता। इसलिये जिन्होंने शुद्धचिद्रूप में अपना मन लगाया, वे मोक्ष गये। मन लगा रहे हैं वे जारहे हैं। और जो मन लगावेंगे वे अवश्य जावेंगे। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं ॥१९॥

निश्चलोऽङ्गी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ।
तदैव भावमुक्तिः स्यात्क्रमेण द्रव्यमुक्तिभाग् ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणनिश्चलताप्रतिपादको नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अर्थ—जिस समय निश्चल मनसे यह स्मरण किया जाता है कि 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' भाव मोक्ष उसी समय हो जाता है। और द्रव्य मोक्ष क्रम क्रम से होता चला जाता है।

भावार्थ—स्व और पर पदार्थों का भेद विज्ञान होना भावमोक्ष है। और शरीर आदि से सर्वथा रहित हो सिद्धलोक मे आत्मा का जा विराजना द्रव्य मोक्ष है। जिस समय संसार से सर्वथा उदासीन हो, 'मैं शुद्ध-चिद्रूप हूं' ऐसा निश्चल स्मरण किया जाता है, भावमोक्ष उसी समय हो जाता है। और ज्यों २ कर्मों का नाश शरीर आदि से रहितपना होता जाता है। त्यों त्यों द्रव्य मोक्ष होता चला जाता है ॥२०॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने की निश्चलता को बतलानेवाला छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवां अध्याय ।

न यामि शुद्धचिद्रूपे लयं यावदहं दृढम् ।
न मुंचामि क्षणं तावद् व्यवहारावलंबनम् ॥१॥

अर्थ—जबतक मै दृढ़ रूपसे शुद्धचिद्रूप में लीन न हो जाऊं, तबतक मैं व्यवहारनय का सहारा नहीं

छोड़ सकता। व्यवहारनय को अवश्य काम मे लाऊगा।

भावार्थ--जबतक 'मैं शुद्धचिद्स्वरूप हू' ऐसा मुझे भले प्रकार ज्ञान होकर उसमे तल्लीन नहीं होता, तबतक निश्चय व्यवहार दोनो ही नय कार्यकारी हैं। उसके ज्ञानके पहिले किसी एक नय से कार्य चलालें, यह कदापि नहीं हो सकता। परन्तु जिस समय वास्तविक शुद्धचिद्रूप मे तल्लीन हो जाय, उस समय व्यवहारनय मानने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि व्यवहारनय से जप तप आदि करने से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति और उसमे लीनता होती है। व्यवहारनय शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति मे कारण है, इसलिये शुद्धचिद्रूप मे बिना लीनता हुए व्यवहारनय का सर्वथा त्याग कर देना नितात मिथ्यात्व है ॥१॥

> अशुद्ध किल चिद्रूप लोके सर्वत्र दृश्यते ।
> व्यवहारनय श्रित्वा शुद्ध बोधदृशा क्वचित् ॥२॥

अर्थ--व्यवहारनय के अवलबन से सर्वत्र ससार मे अशुद्ध ही चिद्रूप दृष्टिगोचर होता है। निश्चयनय से शुद्ध तो भेदज्ञान दृष्टि द्वारा कहीं किसी आत्मा मे दीखता है।

भावार्थ--व्यवहारनय के अवलबन से चिद्रूप कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता। किन्तु शुद्ध निश्चयनय के अवलबन से ही वह शुद्ध हो सकता है। इसलिये शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषियों को चाहिये कि वे व्यवहारनय के साथ शुद्ध निश्चयनय की ओर विशेष रूपसे अपनी दृष्टि को लगावें ॥२॥

चिद्रूपे तारतम्येन गुणस्थानाच्चतुर्थतः ।
मिथ्यात्वाद्युदयाद्याख्यमलापायाद् विशुद्धता ॥३॥

अर्थ — मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी—क्रोध मान माया लोभ के उदयादि रूप मल का अभाव होने के कारण चौथे गुणस्थान से चिद्रूप मे तरतम भावसे विशुद्धि उत्पन्न होती है।

भावार्थ — अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन पाच प्रकृतियो का उपशम होने से तथा सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियो का उपशम या क्षय अथवा क्षयोपशम होने से चतुर्थ गुणस्थान मे चिद्रूप (आत्मा) मे विशुद्धि होती है। तथा पाचवे आदि गुणस्थानो मे ज्यो ज्यो चारित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियो के उदय का अभाव होता जाता है, त्यो त्यो तरतमभाव से चिद्रूप की विशुद्धि होती जाती है ॥ ३ ॥

मोक्षस्वर्गार्थिनां पुसां तात्त्विकव्यवहारिणाम् ।
पंथाः पृथक् पृथक् रूपो नागरागारिणामिव ॥४॥

अर्थ — जिस प्रकार जुदे २ नगर के जानेवाले पथिको के मार्ग जुदे २ होते हैं। उसी प्रकार जो व्यवहार

या कार्य समाप्तकर निश्चय की ओर झुकनेवाले हैं और मोक्ष जाना चाहते हैं, उनका मार्ग भिन्न है। और जो व्यवहार मार्ग के अनुयायी हैं, और स्वर्ग जाना चाहते हैं, उनका मार्ग भिन्न है ॥४॥

चिंताक्लेशकषायशोकबहुले देहादिसाध्यात्परा-
धीने कर्मनिबंधनेऽतिविषमे मार्गे भयाशान्विते ।
व्यामोहे व्यवहारनामनि गतिं हित्वा व्रजात्मन् सदा-
शुद्धे निश्चयनामनीह सुखदेऽमुत्रापि दोषोज्झिते ॥५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह व्यवहार मार्ग चिंता क्लेश कषाय और शोक से जटिल है। देह आदि द्वारा साध्य होने से पराधीन है। कर्मों के लाने में कारण है। अत्यन्त विषम भय और आशा से व्याप्त है और व्यामोह करने वाला है। परन्तु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्ग में यह कोई विपत्ति नहीं है, इसलिये तू व्यवहारनय का त्याग कर शुद्धनिश्चयनय रूप मार्ग का अवलम्बन कर। क्योंकि यह इस लोक की क्या बात ?, परलोक में भी सुखका देनेवाला है और समस्त दोषों से रहित निर्दोष है।

भावार्थ—व्यवहारनयरूप मार्ग में गमन करने से, नाना प्रकार की चिन्ताओं का भाँति २ क्लेश कषाय और शोकों का, सामना करना पडता है। उसमें देह इन्द्रिय मन आदि की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये यह

पराधीन है। शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्म भी व्यवहारनय के अवलंबन से ही आते हैं। अत्यन्त विषम है। उसके अनुयायी पुरुषों को नाना प्रकार के भय और आशाओं से उत्पन्न दुःख भोगने पड़ते हैं। और भ्रान्त होना पड़ता है। परन्तु शुद्ध निश्चयनय मार्ग में गमन करने से चिन्ता क्लेश आदि नहीं भोगने पड़ते। वह स्वाधीन है। उसमें शरीर आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके अवलम्बन से किसी प्रकार के कर्म का भी आस्रव नहीं होता। वह विकट और भय आशाजन्य दुःख भी नहीं भुगाता। एवं व्यामुग्ध भी नहीं करता। तिस पर भी दोनों लोक में सुख देनेवाला और निर्दोष है। इसलिये ऐसे भयंकर व्यवहार मार्ग को त्यागकर सर्वोत्तम निश्चय मार्ग में ही गमन करना चाहिये ॥५॥

न भक्तवृन्दैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहसुख्यैः।
न कर्मणा केन ममाऽस्ति कार्यं विशुद्धचित्यस्तु लयः सदैव ॥६॥

अर्थ—मेरा मन शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये उत्सुक है, इसलिये न तो संसार में मुझे भक्तों की आवश्यकता है। और न शिष्यवर्ग पुस्तक और देह आदि से ही कुछ प्रयोजन है। एवं न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है। केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा शुद्धचिद्रूप में ही लीन रहे। सिवाय शुद्धचिद्रूप के बाह्य किसी पदार्थ में जरा भी न जाय ॥६॥

न चेतसा स्पर्शमहं करोमि सचेतनाचेतनवस्तुजाते ।

विमुच्य शुद्धं हि निजात्मतत्त्वं क्वचित्कदाचित्कथमप्यवश्यम् ॥७॥

अर्थ—मेरी यह कामना है कि शुद्धचिद्रूप नामक पदार्थ को छोड़कर मैं किसी भी चेतन वा अचेतन पदार्थ का किसी देश और किसीकाल मे कभी अपने मनसे स्पर्श न करूं।

भावार्थ—मै जब किसी पदार्थ का चितवन करूं तो शुद्धचिद्रूप का ही करूं। शुद्धचिद्रूप से अतिरिक्त किसी पदार्थ का चाहे वह चेतन अचेतन कैसा भी हो, कभी किसी काल में भी न करूं ॥७॥

व्यवहारं समालंब्य येऽक्षि कुर्वंति निश्चये ।

शुद्धचिद्रूपसम्प्राप्तिस्तेषामेवेतरस्य न ॥८॥

अर्थ—व्यवहारनय का अवलम्बनकर जो महानुभाव अपनी दृष्टि को शुद्ध निश्चयनय की ओर लगाते हैं। उन्हें ही ससार में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है। अन्य मनुष्यों को शुद्धचिद्रूप का लाभ कदापि नहीं हो सकता ॥८॥

संपर्कात् कर्मणोऽशुद्धं मलस्य वसनं यथा ।

व्यवहारेण चिद्रूपं शुद्धं तन्निश्चयाश्रयात् ॥९॥

अर्थ – जिस प्रकार निर्मल भी वस्त्र मैल से मलिन अशुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार व्यवहारनय से कर्म के संबंध से शुद्ध भी चिद्रूप अशुद्ध है। परन्तु शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वह शुद्ध ही है ॥९॥

अशुद्ध कथ्यते स्वर्णमन्यद्रव्येण मिश्रितम् ।
व्यवहारं समाश्रित्य शुद्ध निश्चयतो यथा ॥१०॥
युक्तं तथाऽन्यद्रव्येणाशुद्ध चिद्रूपमुच्यते ।
व्यवहारनयात् शुद्धं निश्चयात् पुनरेव तत् ॥११॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहारनय से शुद्ध भी सोना अन्य द्रव्य के मेल से अशुद्ध और निश्चयनय से शुद्ध कहा जाता है। उसी प्रकार शुद्ध भी चिद्रूप कर्म आदि निकृष्ट द्रव्यों के सम्बन्ध से व्यवहारनय की अपेक्षा अशुद्ध कहा जाता है। और वही शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध कहा जाता है।

भावार्थ—वस्तु जैसी होती है वह वैसी ही रहती है। उसमें शुद्धता अशुद्धता नहीं हो सकती। परन्तु व्यवहार से दूसरी वस्तु के मेल से वह अशुद्ध कह दी जाती है। जिस प्रकार सोना कभी शुद्ध अशुद्ध नहीं हो सकता। वह वही रहता है। परन्तु किसी उसके मिलतऊ पदार्थ के मेल हो जाने से व्यवहार से उसे अशुद्ध कह देते हैं। और निश्चयनय से शुद्ध भी कहते हैं। उसी प्रकार चिद्रूप भी कर्म आदि के सबन्ध के कारण व्यवहार

से अशुद्ध कह दिया जाता है। परन्तु वह वास्तव में शुद्ध ही है ॥१०॥११॥

वाह्यांतरन्यसंपर्को येनांशेन वियुज्यते ।
तेनांशेन विशुद्धिः स्यात् चिद्रूपस्य सुवर्णवत् ॥१२॥

अर्थ— जिस प्रकार बाहर भीतर किसी भी सुवर्ण के जितने अंश का अन्य द्रव्य से सम्बन्ध छूट जाता है, तो वह उतने अंश में शुद्ध कहा जाता है। उसी प्रकार चिद्रूप के भी जितने अंश में कर्ममल का संबंध नष्ट हो जाता है। उतने अंश में वह शुद्ध कहा जाता है ॥१२॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतारोहणं सुधीः ।
कुर्वन् करोति सुदृष्टिर्व्यवहारावलंबनम् ॥१३॥
आरुह्य शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वतमुत्तमम् ।
तिष्ठेद् यावत्त्यजेत्तावद् व्यवहारावलंबनम् ॥१४॥

अर्थ – विद्वान मनुष्य जबतक शुद्धचिद्रूप के ध्यानरूपी विशाल पर्वत पर आरोहण करता है, तबतक तो व्यवहारनय का अवलंबन करता है। परन्तु ज्यों ही शुद्धचिद्रूप के ध्यानरूपी विशाल पर्वत पर चढ़कर वह निश्चलरूप में विराजमान हो जाता है, उसी समय व्यवहारनय का सहारा सर्वथा छोड़ देता है।

भावार्थ— जबतक शुद्धचिद्रूप का ध्यान करे, तबतक व्यवहारनय का सहारा रक्खे। किन्तु जिस समय उसके ध्यान मे पूर्णरूप से लीन हो जाय। चल विचल परिणाम होने का भय न रहे उस समय सर्वथा व्यवहारनय का सहारा छोड दे ॥१३-१४॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतादवरोहणम्।
यदान्यकृतये कुर्यात्तदा तस्यावलंबनम् ॥१५॥

अर्थ— यदि कदाचित् किसी अन्य प्रयोजन के लिये शुद्धचिद्रूप के निश्चल ध्यानरूपी पर्वत से उतरना होजाय, ध्यान करना छोडना पडे, तो उस समय भी व्यवहारनयका नियम से अवलंबन रक्खे। उस समय यदि व्यवहारनयका अवलंबन न होगा तो भ्रष्टपना आसकता है ॥१५॥

याता यांति च यास्यंति ये भव्या मुक्तिसंपदम्।
आलंब्य व्यवहारं ते पूर्वं पश्चाच्च निश्चयम् ॥१६॥
कारणेन विना कार्यं न स्यात्तेन विना नयम्।
व्यवहारं कदोत्पत्ति र्निश्चयस्य न जायते ॥१७॥

अर्थ— जो महानुभाव मोक्षरूपी संपत्ति को प्राप्त होगये, होरहे हैं और होयेंगे। उन सबने पहिले व्यवहार नयका अवलम्बन किया है। क्योंकि बिना कारण के कार्य कदापि नहीं हो सकता। व्यवहार नय कारण है और निश्चय नय कार्य है, इसलिये बिना व्यवहार के निश्चय भी कदापि नहीं हो सकता ॥१६॥१७॥

जिनागमे प्रतीतिः स्याज्जिनस्याचरणेऽपि च।
निश्चय व्यवहार तन्नय भज यथाविधि ॥१८॥

अर्थ- व्यवहार और निश्चय नय का जैसा स्वरूप बतलाया है। उसी प्रकार उसे जानकर, उनका इस रीति से अवलम्बन करना चाहिये। जिससे कि जैन शास्त्रों में विश्वास और भगवान जिनेन्द्र से उक्त चारित्र में भक्ति बनी रहे ॥१८॥

व्यवहार विना केचिन्नष्टाः केवलनिश्चयात्।
निश्चयेन विना केचित्केवलव्यवहारतः ॥१९॥

अर्थ—अनेक मनुष्य तो संसार में व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर केवल शुद्धनिश्चयनय के अवलम्बन से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। और बहुत से निश्चयनय को छोडकर केवल व्यवहार का ही अवलम्बन कर नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—संसार में प्राणियों की रुचि भिन्न २ रूप से होती हैं। बहुत से मनुष्य तो केवल शुद्धनिश्चयावलंबी हो, मनमें यह दृढ़ संकल्प कर, कि हमारा आत्मा सिद्ध-शुद्ध है। वह बुरा भला कुछ नहीं करता। जो कुछ करता है, सो जड़ शरीर ही करता है। और उससे हम कोई संबंध नहीं। भ्रष्ट हो जाते हैं। और चारित्र को सर्वथा तिलाञ्जलि दे, उन्मार्गगामी बन नाना प्रकार के अत्याचार करने लग जाते हैं। तथा अनेक मनुष्य केवल व्यवहार का ही अवलंबन कर, क्रियाकांडों में ही उलझे रहजाते हैं। और निश्चयनय की ओर झांककर भी नहीं देखते। इसलिये मोक्ष के पात्र न होने से ये भी नष्ट हो जाते हैं ॥१९॥

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यावलोकनम् ।
यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं स्याद्वादवादिभिः ॥२०॥

अर्थ--जिस प्रकार एक नेत्र से भले प्रकार पदार्थों का अवलोकन नही होता। दोनो ही नेत्रो से पदार्थ भले प्रकार दीख सकते है। उसी प्रकार एक नयसे कभी कार्य नही चल सकता। व्यवहार और निश्चय दोनो नयो से ही निर्दोष रूपसे कार्य हो सकता है, ऐसा स्याद्वादमत के धुरंधर विद्वानो का मत है ॥२०॥

निश्चयं कांचिदालम्ब्य व्यवहारं कांचिन्नयम् ।
विधिना वर्त्तते प्राणी जिनवाणीविभूषितः ॥२१॥

अर्थ—जो वीर भगवान जिनेन्द्र की वाणी से पूजित हैं। उनके वचनों पर पूर्ण रूप से श्रद्धान रखने वाले हैं। वे कहीं व्यवहारनय से काम चलाते हैं। और कहीं निश्चयनय का सहारा लेते हैं। अर्थात् जहां जैसा अवसर देखते हैं वहां वैसा ही उसी नय का आश्रय कर कार्य करते हैं ॥२१॥

व्यवहाराद्बहिः कार्यं कुर्याद्विधिनियोजितम् ।
निश्चय चान्तर धृत्वा तत्त्ववेदी सुनिश्चलम् ॥२२॥

अर्थ—जो महानुभाव तत्त्वज्ञानी हैं। भले प्रकार तत्त्वों के जानकार हैं। वे अंतरंग में भले प्रकार निश्चय नय को धारण कर व्यवहारनय से अवसर देख कर बाह्य में कार्य का संपादन करते हैं। अर्थात् दोनों नयों को काम में लाते हैं। एक नय से कोई काम नहीं करते ॥२२॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नयाधीनेति पश्यताम् ।
नयादिरहित शुद्धचिद्रूप तदनन्तरम् ॥२३॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणाय नयावलंबनप्रतिपादको सप्तमोऽध्याय ॥६॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नयों के आधीन है। पश्चात् शुद्धचिद्रूप के प्राप्त हुए बाद नयों के अवलंबन की कोई आवश्यकता नहीं।

भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती, तबतक नयों से काम है। परतु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के बाद कोई नय कार्यकारी नही। उस समय नयो की अपेक्षा के बिना ही शुद्धचिद्रूप प्रकाशमान रहता है ॥२३॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने के लिये नयों के आश्रय का वर्णन करने वाला सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवां अध्याय।

छेत्रीसूचीक्रकचपवनैः सीसकाग्न्यूपयत्रै-
स्तुल्या पाथःकतकफलवद्धंसपक्षिस्वभावा।
शस्त्रीजायुस्वाधितिसदृशा टंकवैशाखवद्वा
प्रज्ञा यस्योद्भवति हि भिदे तस्य चिद्रूपलब्धिः ॥१॥

अर्थ—जिस महानुभाव की बुद्धि छैनी सुई आरा पवन सीसा अग्नि ऊपयंत्र (कोलू) कतकफल (फिटकरी) हसपक्षी छुरी जायु दाता टाकी और वैशाख के समान जड़ और चेतन के भेद करने मे समर्थ होगई है। उसी महानुभाव को चिद्रूप की प्राप्ति होती है।

भावार्थ--जिस प्रकार छैनी सुई आरा मिले हुए पदार्थ के दो टुकड़े करदेते हैं। पवन गंध को जुदा उड़ा कर ले जाता है। सीसा चांदी को शुद्ध कर देता है। अग्नि सोना आदि के मैल को शुद्ध कर देती है। कोलू ईख के रस को जुदा कर देता है। छुरी आदि मिले हुए पदार्थ के टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। उसी प्रकार जिस महानुभाव की बुद्धि ने भी अनादिकाल से एकमेक हुए जड़ और चेतन को जुदा जुदा कर पहचान लिया है। वही चिद्रूप का लाभ कर सकता है अन्य नहीं ॥१॥

स्वर्णं पाषाणसूताद्वसनमिव मलात्ताम्ररूप्यादि हेम्नो-
वा लोहादग्निरिक्षो रस इह जलवत्कर्दमात्केकिपक्षात् ।
ताम्रं तैलं तिलादेः रजतमिव किलोपायतस्ताम्रमुख्यात्
दुग्धान्नीरं घृतं च क्रियत इव पृथक् ज्ञानिनात्मा शरीरात् ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार स्वर्णपाषाण से सोना भिन्न किया जाता है। मैल से वस्त्र, सोने से तांबा चांदी आदि पदार्थ, लोह से अग्नि, ईख से रस, कीचड़ से जल, केकी (मयूर) के पंख से तांबा तिल आदि से तैल, तांबा आदि धातुओं से चांदी, और दूध से जल एवं घी जुदा कर लिया जाता है। उसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है। जड़ चेतन का वास्तविक ज्ञान रखता है। वह शरीर से आत्मा को जुदा कर पहचानता है।

भावार्थ—मोक्ष अवस्था के पहले आत्मा और शरीर का संबंध अनादिकाल से है। ऐसा कोई भी अवसर प्राप्त न हुआ, जिसमें शरीर और आत्मा सर्वथा जुदे हुए हो। तथा अज्ञानियो को शरीर और आत्मा दोनों एक ही जान पड़ते हैं। उन्हे भेद दृष्टिगोचर होता ही नही। परन्तु ज्ञानियो की दृष्टि मे अवश्य भेद है। क्योंकि जिस प्रकार अनादिकाल से मिले हुये सोने के पाषाण और सोने को, मैल और वस्त्र को, तांबा और चांदी सोने को, लोह और अग्नि को, ईख और उसके रस को, कीचड़ और पानी को, मोर के पंख और तांबे को, तिल तैल को, तांबा आदि धातु और चांदी को, क्षीर नीर न घी को, सर्वथा जुदा २ कर जान लिया जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी भी शरीर और आत्मा को सर्वथा जुदा २ कर पहचानता है ॥२॥

देशं राष्ट्रं पुराद्यं स्वधनजनकुलं वर्णपक्षं स्वकीय—
ज्ञाति संबंधिवर्गं कुलपरिजनकं सोदरं पुत्रजाये ।
देहं हृद्वाग्विभावान् विकृतिगुणविधीन् कारकादीनि भित्त्वा
शुद्धं चिद्रूपमेकं सहजगुणनिधिं निर्विभागं स्मरामि ॥३॥

अर्थ—देश राष्ट्र पुर गांव, धन वन, जनसमुदाय, ब्राह्मण आदि वर्णों का पक्षपात जाति, संबंधी, कुल परिवार माता पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय और वाणी ये सब पदार्थ विकार के करने वाले हैं। इनको अपना

मान कर स्मरण करने से ही चित्त शुद्धचिद्रूप की ओर से हट जाता है। चचल हो उठता है। तथा मैं कर्त्ता और करण आदि हू इत्यादि कारकों के स्वीकार करने स भी चित्त म चल निचलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये स्वाभाविक गुणों क भडार शुद्धचिद्रूप को ही मैं निर्विभाग रूप मे कर्त्ता करण का कुछ भी भेद न कर स्मरण मनन ध्यान करता हू।

भावार्थ—चित्त मे किसी प्रकार की चचलता का न आना, परिणामों का आकुलतामय न होना ही परम सुख है। मैं देखता हू, जिस समय देश राष्ट्र कुल पुर जाति परिवार आदि का विचार किया जाता है, उनके रहन सहन पर ध्यान दिया जाता है, तो मेरा चित्त आकुलतामय हो जाता है। रंचमात्र भी परिणामों को शाति नहीं मिलती। परतु शुद्धचिद्रूप क स्मरण करने से चित्त म किसी प्रकार की खट खट नहीं होती। एकदम शाति का सचार होने लग जाता है। इसलिये समस्त जगत् के जजाल को छोड़ कर मैं शुद्धचिद्रूप का ही स्मरण करता हू। उसी मे मेरा कल्याण होगा ॥३॥

स्वात्मध्यानामृत स्वच्छ विकल्पानपसार्य सत्।
पिबति क्लेशनाशाय जल शेवालवत्सुधीः ॥४॥

अर्थ— जिस प्रकार क्लेश पिपासा की शाति के लिये जल के ऊपर फुली हुई काई को अलग कर शीतल

सुरस निर्मल जल पिया जाता है। उसी प्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं। दु खों से दूर होना चाहते हैं। वे समस्त ससार के विकल्प जालों को छोड कर आत्म ध्यान रूपी अनुपम स्वच्छ अमृत का पान करते हैं। अपने चित्त को द्रव्य आदि की चिन्ता की ओर नहीं झुकने देते ॥४॥

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् पर तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५॥

अर्थ- इस आत्मध्यान से बढ़कर न तो कहीं किसी काल में कोई सुख है। न तप है। और न मोक्ष ही है। अर्थात् जो कुछ है सो यह आत्मध्यान ही है। इसलिये उसी को परम कल्याण का कर्ता समझना चाहिये ॥५॥

केचित्प्राप्य यशः सुख वरवधूं रायं सुतं सेवकं—
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकम् ।
मन्यन्ते सफलं सुजन्म मुदिता मोहाभिभूता नरा--
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषो ज्ञप्त्या भिदः केवलम् ॥६॥

अर्थ— मोह के मद म मत्त बहुत से मनुष्य कीर्त्ति प्राप्त होने से ही अपना जन्म धन्य समझते हैं।

अनेक इंद्रिय जन्य सुख, सुन्दर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक स्वामीपना, और उत्तम वाहनों की प्राप्ति से अपना जन्म सफल मानते हैं। और बहुतो को बल उत्तम मित्र विद्वत्ता और मनोहर रूप आदि की प्राप्ति से संतोष हो जाता है। परन्तु मैं बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने वाले आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान से अपना जन्म सफल मानता हूं।

भावार्थ—यह जीव अनादि काल से इस संसार में घूम रहा है। कई बार इसे कीर्ति सुख, उत्तम स्त्री, धन, पुत्र, और सेवक प्राप्त होचुके हैं। बहुत बार यह स्वामी राजा भी होगया है। इसे उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वत्ता, और रूप आदि की भी अनेक बार प्राप्ति हो चुकी है। परन्तु मोह के जाल में फसने के कारण उसे जरा भी होश नहीं होता और पुनः पुत्र आदि की प्राप्ति से अपने जन्म को कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझे संसार के चरित्र के भले प्रकार ज्ञान से उनकी प्राप्ति से किसी प्रकार का संतोष नहीं होता। इसलिये मैं कभी प्राप्त नहीं हुए भेद विज्ञान से ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हूं। ६॥

तावत्तिष्ठति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः ।
भेदविज्ञानवज्रं न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥७॥

अर्थ—आत्मा रूपी भूमि में कर्म रूपी अभेद्य पर्वत तभी तक निश्चल रूप से स्थिर रह सकते हैं। जब तक भेद विज्ञान रूपी वज्र इनके मस्तक पर पड़ कर इन्हें चूर्ण चूर्ण नहीं कर डालता।

भावार्थ—जब तक भेद विज्ञान नहीं होता तभी तक कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं। परन्तु भेद विज्ञान होते ही कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्र चिद्रूप प्रतिपादकम् ॥८॥
ततोऽपि दुर्लऽभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः ।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥ ९ ॥

अर्थ—जो पदार्थ चिद्रूप में प्रेम कराने वाला है, वह ससार मे दुर्लभ है। उससे भी दुर्लभ चिद्रूप के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र है। यदि शास्त्र भी प्राप्त होजाय, तो चिद्रूप के स्वरूप का उपदेशक गुरु नहीं मिलता। इसलिये उससे गुरु की प्राप्ति दुर्लभ है, गुरु भी प्राप्त होजाय, तो जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार भेद विज्ञान की प्राप्ति दुष्प्राप्य है।

भावार्थ—प्रथम तो चिद्रूप के ध्यान मे रुचि नही होती। यदि रुचि होजाय, तो चिद्रूप के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र नहीं मिलता। कदाचित् शास्त्र प्राप्त हो जाय, तो उसका उपदेशक गुरु नहीं प्राप्त होता। गुरु की प्राप्ति हो जाय, तो भेद विज्ञान की प्राप्ति जल्दी नहीं होती। इसलिये भेद विज्ञान की प्राप्ति सब से दुर्लभ है ॥ ८ । ९

भेदो विधीयते येन चेतनादेहकर्मणो. ।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते ॥१०॥

अर्थ— जिसके द्वारा आत्मा से देह और कर्म का तथा देह एवं कर्म से उत्पन्न हुई विक्रियाओं का भेद जाना जाय, उसे भेद विज्ञान कहते हैं ॥ १० ॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तप. श्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥११॥

अर्थ - शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति बिना भेद विज्ञान के कदापि नहीं हो सकती। इसलिये तपस्वी या श्रुत… ने बिना भेद विज्ञान के आज तक कहीं भी शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति न कर पाई, न कर ही… चिद्रूप की प्राप्ति की है, उसने भेद विज्ञान से ही की है ॥ ११ ॥

…लयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकम् ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ॥१२॥

…र अग्नि देखते देखते तृणों के समूह को जला कर खाक कर देती है। उसी प्रकार जो

भेद विज्ञानी है, वह शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के नाश करने वाले कर्म समूह को क्षण भर में समूल नष्ट कर देता है। भेद विज्ञानी की आत्मा के साथ किसी प्रकार के कर्म का संबंध नहीं रहता ॥१२॥

अच्छिन्नधारयाभेदबोधनं भावयेत् सुधीः।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यैसर्वशास्त्रविशारदः ॥१३ ॥

अर्थ-जो महानुभाव समस्त शास्त्रों में विशारद हैं। और शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का अभिलाषी है। उसे चाहिये कि वह एकाग्र हो भेद विज्ञान की ही भावना करे। भेद विज्ञान के अतिरिक्त किसी पदार्थ में ध्यान न लगावे ॥ १३ ॥

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ॥१४॥

अर्थ- अपने आत्मा के ज्ञान से संवर और निर्जरा की प्राप्ति होती है। आत्मा का ज्ञान भेद विज्ञान से होता है। इसलिये मोक्षाभिलाषी को चाहिये कि वह भेद ज्ञान की ही भावना करे।

भावार्थ— संवर (कर्मों के आगमन का रुक जाना) और निर्जरा (क्रम २ से अवशिष्ट कर्मों का क्षय होना) की प्राप्ति के बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है। संवर और निर्जरा का लाभ आत्म ज्ञान से होता है। इसलिये मोक्षाभिलाषी को चाहिये कि वह भेद विज्ञान को सब में कार्यकारी जान उसी की भावना करे ॥१४॥

लब्धा वस्तुपरीक्षा च शिल्पादिसकला कला ।
बह्वी शक्तिर्विभूतिश्च भेदज्ञप्तिर्न केवला ॥ १५ ॥

अर्थ—इस संसार के अन्दर अनेक पदार्थों की परीक्षा करना भी सीखा। शिल्प आदि अनेक प्रकार की कलाएं भी हासिल कीं। बहुत सी शक्तियां और विभूतियां भी प्राप्त कीं। परन्तु भेद विज्ञान का लाभ आज तक न हुआ ॥१५॥

चिद्रूपच्छादको मोहरेणुराशिर्न बुध्यते ।
क्व यातीति शरीरात्मभेदज्ञानप्रभञ्जनात् ॥१६॥

अर्थ—शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान रूपी महा पवन के सामने चिद्रूप के स्वरूप को ढकने वाली मोह की रेणुएं न मालूम कहां विनाश कर जाती हैं ?

भावार्थ—जिस प्रकार जब तक बलवान पवन नहीं चलती, तभी तक धूलि की रेणु इकट्ठी रहती है, किन्तु पवन के चलते ही उनका पता तक नहीं लगता। उसी प्रकार जबतक शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान नहीं होता। वे जुदे नहीं जान लिये जाते। तभी तक मोह का पर्दा आत्मा के ऊपर पड़ा रहता है। परन्तु भेद

विज्ञान के प्राप्त होते ही, वह एक दम लापता हो जाता है । अन्वेषण करने पर भी उसका जरा भी खोज नहीं चलता ॥१६॥

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥१७॥

अर्थ—यह भेद विज्ञान शुद्धचिद्रूप के दिखाने मे जाज्वल्यमान दीपक है। और अनादिकाल से विद्यमान मोहरूपी प्रबल अंधकार का नाश करने वाला है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक से घट पट आदि पदार्थ स्पष्ट रूप से दीखते हैं । और अंधकार का नाश हो जाता है। उसी प्रकार भेद विज्ञान से शुद्धचिद्रूप का भले प्रकार दर्शन होता है और मोह रूपी गाढ अंधकार भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७॥

भेदविज्ञाननेत्रेण योगी साक्षादवेक्षते ।
सिद्धस्थाने शरीरे वा चिद्रूपं कर्मणोज्झितम् ॥१८॥

अर्थ—योगिगण भेद विज्ञान रूपी नेत्र की सहायता से सिद्ध स्थान वा शरीर मे विद्यमान समस्त कर्मों से रहित शुद्धचिद्रूप को स्पष्ट रूप से देख लेते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार गृह आदि स्थानों मे स्थित पदार्थ नेत्र से भले प्रकार देख जान लिये जाते हैं। उसी प्रकार सिद्ध स्थान मोक्ष वा अपने शरीर म विद्यमान समस्त कर्मों से रहित इस शुद्धचिद्रूप को दिखाने वाला जो भेद विज्ञान है, उसके द्वारा योगी शुद्धचिद्रूप को भी स्पष्ट रूप से देख लेते हैं ॥१८॥

मिलितानेकवस्तूनां स्वरूपं हि पृथक् पृथक् ।
स्पर्शादिभिर्विदग्धेन निःशकं ज्ञायते यथा ॥१९॥
तथैव मिलितानां हि शुद्धचिद्देहकर्मणाम् ।
अनुभूत्या कथं सिद्धिः स्वरूपं न पृथक् पृथक् ॥२०॥ युग्मम् ॥

जिस प्रकार विद्वान मनुष्य आपस म मिले हुए भी अनेक पदार्थों का स्वरूप स्पर्श आदि के द्वारा स्पष्ट रूप से जुदा जुदा पहचान लेते हैं। उसी प्रकार आपस मे अनादिकाल से मिले हुए शुद्धचिद्रूप, शरीर और कर्मों के स्वरूप को भी अनुभव ज्ञान के बल से वे बिना किसी रोक टोक के स्पष्ट रूप से जुदा २ जान लेते हैं।

भावार्थ—संसार में पदार्थों के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। और उसके बतलाने वाले लक्षण भी जुदे जुदे हैं। जल और अग्नि आदि पदार्थ एक स्थान पर स्थित रहने पर भी अपने शीत और उष्ण स्पर्श से स्पष्ट रूप से जुदे जुदे जान लिये जाते हैं। क्योंकि शीत स्पर्श सिवाय जल के और उष्ण स्पर्श सिवाय अग्नि के किसी

पदार्थ में नहीं रहता। उसी प्रकार यद्यपि शुद्धचिद्रूप और शरीर कर्म अनादिकाल से आपस में एकमेक होरहे हैं। आज तक कभी ऐसा अवसर न आया, जिसमें ये सर्वथा जुदे जुदे रहे हों। तथापि अनुभव भेद विज्ञान के बल से इनको जुदा २ कर जान लिया जाता है। यह शुद्धचिद्रूप है और ये जड़ शरीर और कर्म हैं। यह बात खुलासा रूप से समझ में आजाती है ॥ १९ ॥ २० ॥

आत्मानं देहकर्माणि भेदज्ञाने समागते।
मुक्त्वा यान्ति यथा सर्पा गरुडे चंदनद्रुमम् ॥२१॥

अर्थ—जिस चंदन वृक्ष पर लिपटे हुए सर्प अपने वैरी गरुड़ पक्षी के देखते ही तत्काल आंखो के ओझल हो जाते हैं। पता लगाने पर भी उनका पता नहीं लगता। उसी प्रकार भेद विज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त कर्म आत्मा को छोड़कर न मालूम कहां लापता हो जाते हैं। विरोधी भेद विज्ञान के उत्पन्न होते ही कर्मों की सूरत भी नहीं दीख पड़ती ॥२१॥

भेदज्ञानबलात् शुद्धचिद्रूपं प्राप्य केवली।
भवेद्देवाधिदेवोऽपि तीर्थकर्त्ता जिनेश्वरः ॥२२॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तये भेदविज्ञानप्राप्तिप्रतिपादकोऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अर्थ—इसी भेद विज्ञान के बल से यह आत्मा शुद्धचिद्रूप को प्राप्त कर केवल ज्ञानी, तीर्थंकर और जिनेश्वर कहलाने लगता है।

भावार्थ—केवली, जिनेश्वर आदि पदों की प्राप्ति अति कठिन है। परन्तु भेद विज्ञानियों को कठिन नहीं। क्योंकि जो महानुभाव अपने भेद विज्ञान रूपी अखण्ड बल से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति कर लेते हैं, वे केवल ज्ञानरूपी अचिंत्य विभूति से मंडित हो जाते हैं। समस्त देवों के स्वामी तीर्थंकर और जिनेश्वर भी कहलाने लगते हैं। इसलिये यह भेद विज्ञान संसार की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला अनुपम चिन्तामणि रत्न है। २२॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण निर्मित तत्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति करने के लिये भेद विज्ञान की प्राप्ति का बतलाने वाला आठवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ८॥

नवमाँ अध्याय।

अन्यदीया मदीयाश्च पदार्थाश्चेतनेतराः।
एतेऽदश्चिंतनं मोहो यतः किंचिन्न कस्यचित् ॥१॥

अर्थ—ये चेतन और जड़ पदार्थ पराये व अपने हैं, इस प्रकार का मन में चिंतवन करना ही मोह है। क्योंकि यदि वास्तव में देखा जाय तो कोई पदार्थ किसी का नहीं है।

भावार्थ-- सिवाय शुद्धचिद्रूप के संसार में कोई पदार्थ अपना नहीं । इसलिये स्त्री पुत्र आदि चेतन, धन माल खजाना आदि अचेतन पदार्थों में अपने मन का संकल्प विकल्प करना मोह है ॥१॥

दत्तो मानोऽपमानो मे जल्पिता कीर्तिरुज्ज्वला ।
अनुज्ज्वलापकीर्तिर्वा मोहस्तेनेति चिंतनम् ॥२॥

अर्थ—इसने मेरा आदर सत्कार किया । इसने मेरा अपमान अनादर किया । इसने मेरी उज्ज्वल कीर्ति फैलाई । और उसने मेरी अपकीर्ति फैलाई । इस प्रकार का मन में विचार लाना ही मोह है ।

भावार्थ —यदि वास्तव में देखा जाय, तो किसका आदर ? किसका अनादर ? किसकी कीर्ति ? और किसकी अपकीर्ति ? सब बात मिथ्या है । परन्तु मोह से मूढ़ यह प्राणी आदर अनादर का विचार करने लग जाता है । इसलिये उसका इस प्रकार का विचार करना प्रबल मोह है ॥२॥

किं करोमि क्व यामीदं क्व लभेय सुखं कुतः
किमाश्रयामि किं वच्मि मोहश्चिंतनमीदृशम् ॥३॥

अर्थ—मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? कैसे सुखी होऊं ? किस का सहारा लूं ? और क्या कहूं ? इस प्रकार का विचार करना भी मोह है । निर्मोही वीतराग ऐसे विचार को सर्वथा मिथ्या मान, कभी ऐसा विचार नहीं करते ॥३॥

चेतनाचेतनरागो द्वेषो मिथ्यामतिर्मम ।
मोहरूपमिदं सर्वं चिद्रूपोऽहं हि केवलः ॥४॥

अर्थ— ये जो संसार में चेतन अचेतन रूप पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। वे मेरे हैं या दूसरे के हैं, इस प्रकार राग और द्वेष रूप विचार करना मिथ्या है। क्योंकि ये सब मोह स्वरूप हैं। और मेरा स्वरूप शुद्धचिद्रूप है। इसलिये ये मेरे कभी नहीं हो सकते ॥४॥

देहोऽहं मे स वा कर्मोदयोऽहं वाप्यसौ मम ।
कलत्रादिरहं वा मे मोहोऽदश्चिंतनं किल ॥५॥

अर्थ—मैं शरीर स्वरूप हूं, वा शरीर मेरा है। मैं कर्म का उदय स्वरूप हूं, वा कर्म का उदय मेरा है। मैं स्त्री पुत्र आदि स्वरूप हूं, वा स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं। इस प्रकार का विचार करना भी सर्वथा मोह है। देह आदि में मोह के होने से ही ऐसे विकल्प होते हैं ॥५॥

तज्जये व्यवहारेण संत्युपाया अनेकशः ।
निश्चयेनेति मे शुद्धचिद्रूपोऽहं स चिंतनम् ॥६॥

अर्थ—व्यवहारनय से इस उपर्युक्त मोह के नाश करने के लिये बहुत से उपाय हैं। निश्चयनय से मैं "शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा विचार करने मात्र से ही इस का सर्वथा नाश हो जाता है।

भावार्थ—यह मेरा है यह तेरा है। मैं शरीर आदि स्वरूप हूं, शरीर आदि मेरे स्वरूप हैं। इस प्रकार का विचार करना जो पहिले मोह बतला आये हैं, उस मोह का नाश व्यवहारनय की अपेक्षा बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से तप आदि के आचरण करने से होता है। और निश्चयनय से "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा विचार करने से ही वह समूल नष्ट हो जाता है ॥६॥

धर्मो द्वारविनाशनादि कुरुते कालो यथा रोचते,
स्वस्यान्यस्य सुखासुखं वरखजं कर्मैव पूर्वार्जितम् ।
अन्ये येऽपि यथैव संति हि तथैवार्थाश्च तिष्ठंति ते,
तच्चिंतामिति मा विधेहि कुरु ते शुद्धात्मनश्चिंतनम् ॥७॥

अर्थ- काल के अनुसार धर्म, कर्मों के आगमन के द्वार को रोकता है। पहिले का उपार्जन किया हुआ कर्म इंद्रियों के उत्तमोत्तम सुख या नाना प्रकार के क्लेश भुगाता है। जो पदार्थ जैसे और जिस रीति से हैं, वे उसी रीति में विद्यमान हैं। इसलिये हे आत्मन्! तू उनके लिए किसी बात की चिंता न कर। अपने शुद्धचिद्रूप की ओर ध्यान दे।

भावार्थ- जो पदार्थ जैसा है, वह उसी रूप में है। वास्तविक दृष्टि से रत्तीभर भी उसमें हेर फेर नहीं हो सकता। देखो! काल के अनुसार धर्म से कर्मों का आना बंद होता है और नाश होता है। पहले उपार्जन किये कर्म से संसार में सुख दुःख भोगना पड़ता है। और भी जो पदार्थ जिस रूप में हैं, वे उसी रूप में स्थित हैं। तब उनके विषय में चिन्ता करना व्यर्थ है। इसलिये आत्मा को चाहिये कि वह समस्त प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर अपने शुद्धचिद्रूप की ही चिंता करे। उसी की चिन्ता से उसका कल्याण हो सकता है ॥७॥

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैं निंजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया।
तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च,
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ॥८॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गन्धमय है। विष्टा मूत्र आदि मलों का घर है। निंदित कर्म की कृपा से मल मज्जा आदि धातुओं से बना हुआ है। तथापि मूढ़ मनुष्यों ने अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिये इच्छानुसार इसकी प्रशंसा की है। परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशंसा और निंदा से क्या प्रयोजन है? क्योंकि मैं निश्चयनय से शरीर कर्म और उनसे उत्पन्न हुये विकारों से रहित शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूं।

भावार्थ—यदि यह शरीर मेरा वा मेरे समान होता तो मुझे इसकी प्रशंसा निन्दा करनी पड़ती। सो तो है नहीं। क्योंकि यह महा अपवित्र है। जड़ है। और मैं शुद्धचिद्रूप हूं। इसलिये कभी इसकी मेरे साथ तुलना नहीं हो सकती। इसलिये मुझे इसकी प्रशंसा व निंदा से कोई लाभ नहीं ॥८॥

कीर्तिं वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितम्-
सतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनम्।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च,
कुर्युः कर्मविमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परम् ॥९॥

अर्थ—संसार में बहुत से मोही पुरुष कीर्ति के लिये काम करते हैं। अनेक दूसरों को प्रसन्न करने के लिये, इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिये, अपने जीवन की रक्षा के लिये, संतान परिग्रह भय ज्ञान दर्शन

तथा अन्य पदार्थों की प्राप्ति और रोग के अभाव के लिये काम करते हैं। और बहुत से कीर्ति आदि के कारणों के मिलाने के लिये उपाय सोचते रहते हैं। परंतु जो मनुष्य बुद्धिमान हैं। अपनी आत्मा को सुखी बनाना चाहते हैं। वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये ही कार्य करते हैं।

भावार्थ—संसार में जीव भिन्न २ प्रकृतियों के हैं। कोई मनुष्य संसार में कीर्ति लाभ करना ही अच्छा मानते हैं। बहुत से पर को प्रसन्न करने से ही अपने को सुखी मानते हैं। अनेक इन्द्रियों के विषयों में प्रमस्त रहते हैं। कोई २ अपने जीवन की रक्षा, संतान की उत्पत्ति, और परिग्रह का एकत्र करना ही अच्छा समझते हैं। बहुत से ज्ञान दर्शन आदि अन्य पदार्थों की प्राप्ति और रोग के दूर करने के लिये ही चिंता करते रहते हैं। तथा उनकी प्राप्ति के उपाय और उनके अनुकूल कार्य भी किया करते हैं। परंतु ऐसे मनुष्य संसार में उत्तम नहीं गिने जाते। मोह के जाल में जकड़े हुए रह जाते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं और उसकी प्राप्ति के उपायों को सोचते हैं, वे प्रशंस्य गिने जाते हैं। ॥९॥

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखम् ॥१०॥

अर्थ—मैंने शुद्धचिद्रूप के स्वरूप को भले प्रकार जान लिया है, इसलिये मेरे चित्त में देवेन्द्र नागेंद्र

और नरेन्द्र के सुख जीर्णतृण सरीखे जान पड़ते हैं। परंतु जो मनुष्य अल्पज्ञानी हैं। अपने और पर के स्वरूप का भले प्रकार ज्ञान नहीं रखते। वे भूमि स्त्रिया लक्ष्मी घर शरीर और पुत्र से उत्पन्न हुये सुख को जो कि दुःख स्वरूप है, सुख मानते हैं। यह बड़ा आश्चर्य है ॥१०॥

न बद्धः परमार्थेन बद्धो मोहवशाद् गृही।
शुकवद् भीमपाशेनाथवा मर्कटमुष्टिवत् ॥११॥

अर्थ - भय करानेवाले पाशके समान, अथवा बदर की मुट्ठी के समान यद्यपि यह जीव वास्तविक दृष्टि से कर्मों से संबन्द्ध नहीं है, तथापि मोह से बधा ही हुआ है।

भावार्थ- जिस प्रकार नलिनी पर लटकता हुआ शुक यद्यपि पाश से बंधा हुआ नही रहता। तथापि वह अपने को पाश से बधा हुआ मानता है। और अपनी सुधबुध को भूलकर उसको छोड़ना नहीं चाहता। लटकता ही रहता है। तथा यद्यपि बदर की मुट्ठी वास्तवरूप से नहीं बधती। तथापि वह बधी सरीखी जान पड़ती है। उसी प्रकार यदि परमार्थ से देखा जाय तो यह जीव किसी प्रकार के कर्मों से बंधा हुआ नहीं है। तथापि व्यवहार से यह मोह के गाढ़ बधन में जकड़ा हुआ ही है ॥११॥

श्रद्धानां पुस्तकानां जिनभवनमठांतेनिवास्यादिकानां

कीर्तेरक्षार्थकानां भुवि झटिति जनो रक्षणे व्यग्रचित्तः ।
यस्तस्य क्वात्मचिंता क्व च विशदमतिः शुद्धचिद्रूपकाप्तिः
क्व स्यात्सौख्य निजोत्थ क्व च मनसि विचिंत्येति कुर्वंतु यत्नम् ॥१२॥

अर्थ—यह संसारी जीव, नाना प्रकार के धर्मकार्य, पुस्तकें जिनेन्द्र भगवान के मंदिर मठ छात्र और कीर्ति की रक्षा करने के लिये सदा व्यग्रचित्त रहता है। उन कार्यों से रंच मात्र भी इसे अवकाश नहीं मिलता। इसलिये न यह किसी प्रकार का आत्म ध्यान कर सकता। न इसकी बुद्धि निर्मल रह सकती। और न शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति और निराकुलता रूप सुख ही मिल सकता है। अतः बुद्धिमानों को चाहिये कि वे इन सब बातों पर भले प्रकार विचार कर आत्मा के चिन्तवन आदि कार्यों में अच्छी तरह यत्न करें।

भावार्थ - आत्मा की ओर ध्यान लगाने से विशद मति भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है। भेद विज्ञान से शुद्ध-चिद्रूप का लाभ और उससे फिर निराकुलता रूप सुख की प्राप्ति होती है। परन्तु जबतक धर्म कार्य पुस्तकें और कीर्ति आदि की रक्षा में व्यग्रता रहेगी, तबतक उपयुक्त एक भी बात की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये जिन महाशयों को शुद्धचिद्रूप आदि पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा है। उन्हें चाहिये कि वे संसार की समस्त खटपटों से रहित हो शान्त चित्त हों ॥ १२ ॥

अहं भ्रांतः पूर्वं तदनु च जगत् मोहवशतः,
परद्रव्ये चितासततकरणादाभवमहो ।
परद्रव्यं मुक्त्वा विहरति चिदानंदनिलये,
निजद्रव्ये यो वै तमिह पुरुषं चेतसि दधे ॥१३॥

अर्थ—मोह के फद मे पड़ कर परद्रव्यो की चिंता और उन्हे अपनाने से प्रथम तो मैंने ससार मे परिभ्रमण किया । और फिर मेरे पश्चात् यह समस्त जनसमूह घूमा । इसलिये जो महापुरुष परद्रव्यो से ममता छोड़ कर चिदानद स्वरूप निजद्रव्य मे विहार करने वाला है—निजद्रव्य का ही मनन स्मरण ध्यान करने वाला है, उस महात्मा को मैं अपने चित्त मे धारण करता हूं ।

भावार्थ—इस ससार मे सबसे बलवान मोहनीय कर्म है और उसके फद मे पड़ कर जीव नाना प्रकार के क्लेश भोगते रहते हैं । इसी मोह के फद मे फस कर परद्रव्यों की चिन्ता मे व्यग्र हो, मैने बहुत काल तक इस ससार मे भ्रमण किया । और मेरे पीछे और भी बहुत से जीव घूमते रहे । परन्तु इस ससार मे ऐसे भी बहुत से मनुष्य हैं, जिन्हों ने मोह को सर्वथा निर्मूल कर दिया है और समस्त परद्रव्यों से सर्वथा ममत्व छोड़कर आत्मिक शुद्धचिद्रूप मे चित्त स्थिर किया है । इसलिये अब मै ऐसे ही महापुरुषों का शरण लेना चाहता हूं । इन्हीं के

शरण में जाने से मेरा कल्याण होगा ॥१३॥

हित्वा यः शुद्धचिद्रूपस्मरणं हि चिकीर्षति ।
अन्यत्कार्यमसौ चिंतारत्नमश्मग्रहं कुधीः ॥१४॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जीव शुद्धचिद्रूप का स्मरण न कर अन्य कार्य करना चाहते हैं। वे चिंतामणि रत्न को त्याग कर पाषाण ग्रहण करते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥१४॥

स्वाधीनं च सुखं ज्ञानं परं स्यादात्मचिंतनात् ।
तन्मुक्त्वा प्राप्तुमिच्छंति मोहतस्तद्विलक्षणम् ॥१५॥

अर्थ—इस आत्मा के चिंतवन से-शुद्धचिद्रूप के ध्यान से निराकुलतारूप सुख और उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है।-परन्तु ये मूढ़ जीव मोह के वश होकर आत्मा का चिंतवन करना छोड़ देते हैं और उससे विपरीत कार्य 'जो कि अनंत क्लेश-देने वाला है' कर निकलते हैं ॥१५॥

यावन्मोहो बली पुंसि दीर्घसंसारतापि च ।
न तावत् शुद्धचिद्रूपे रुचिरत्यंतनिश्चला ॥१६॥

अर्थ —जबतक इस आत्मा के साथ महाबलवान मोहनीय कर्म का संबंध है और दीर्घ संसारता-चिरकाल तक संसार में भ्रमण करना बाकी है। तबतक इसका कभी शुद्धचिद्रूप में निश्चल रूपसे प्रेम नहीं हो सकता ॥१६॥

अधे नृत्यं तपोऽज्ञे गदविधिरतुला स्वायुषो वाऽवसाने ।
गीतं बाधिर्ययुक्ते वपनमिह यथाऽप्यूषरे वार्यतृष्णे ॥
स्निग्धे चित्राण्यभव्ये रुचिविधिरनघ' कुंकुमं नीलवस्त्रे ।
नात्मप्रीतौ तदाख्या भवति किल वृथा निःप्रतीतौ सुमंत्रः ॥१७॥

अर्थ-जिस प्रकार अंधे के सामने नाच, अज्ञानी का तप, आयु के अंत में औषध का प्रयोग बहिरे के आगे गीतों का गाना, ऊसर भूमि में अन्न का बोना, बिनप्यासे मनुष्य के लिये जल देना, चिकने पर चित्र का खींचना, अभव्य को धर्म की रुचि कहना, काले कपडे पर केसरिया रंग और प्रतीति रहित पुरुष के लिये मंत्र प्रयोग करना कार्यकारी नहीं। उसी प्रकार जिसका आत्मा पर प्रेम नहीं, उस मनुष्य को आत्मा के ध्यान करने का उपदेश भी कार्यकारी नहीं-सब व्यर्थ है।

भावार्थ— जिस प्रकार अंधा नाच नहीं देख सकता। अज्ञानी तप नहीं कर सकता। आयु का अंत हो जाने पर दवा काम नहीं दे सकती। बहिरा गीत नहीं सुन सकता। ऊसर भूमि में अन्न नहीं ऊग सकता।

चिकने पदार्थ पर तस्वीर नहीं खिंच सकती। अभव्य को
बिना प्यासे मनुष्य के लिए जल फल नहीं दे सकता। और अविश्वासी मनुष्य के लिए
धर्म रुचि नहीं हो सकती। काले कपडे पर कसरिया रंग नहीं चढ़ सकता। उपदेश से कुछ लाभ
मंत्र काम नहीं दे सकता। उसी प्रकार आत्मा मे प्रेम न करने वाला मनुष्य भी उस के
नहीं उठा सकता। इस लिये जीवों को चाहिये कि वे अवश्य आत्मा मे प्रेम करें। १७॥

स्मरंति परद्रव्याणि मोहान्मूढा· प्रतिक्षणम्।
शिवाय स्वं चिदानंदमयं नैव कदाचन ॥१८॥

अर्थ—ये मूढ़ मनुष्य मोह के वश हो प्रतिसमय पर द्रव्य का स्मरण करते हैं। परन्तु मोक्ष के लिए शुद्ध चिदानंद का कभी भी ध्यान नहीं करते ॥१८॥

मोह एव परं वैरी नान्य कोऽपि विचारणात्।
ततः स एव जेतव्यो बलवान् धीमताऽऽदरात् ॥१९॥

अर्थ—विचार करने से मालूम हुआ है, कि यह मोह ही जीवों का अहित करने वाला महा बलवान वैरी है। इसीके अधीन हो मनुष्य नाना प्रकार के क्लेश भोगते रहते हैं। इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं, आत्मा के स्वरूप के जानकार हैं, उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले इस मोह को जीतें अपने वश में करें ॥१९॥

भवकूपे महामोहपंकेऽनादि गतं जगत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानरज्ज्वा सर्वं समुद्धरे ॥२०॥

अर्थ—यह समस्त जगत अनादि काल से संसाररूपी विशाल कूप के अन्दर महामोह रूपी कीचड़ में फंसा हुआ है; इसलिये अब मैं शुद्धचिद्रूप के ध्यानरूपी मजबूत रस्सी के द्वारा उसका उद्धार करूंगा।

भावार्थ—जिस प्रकार कुए में कीचड़ के अंदर फंसा हुआ पदार्थ रस्सी के सहारे ऊपर खींच लिया जाता है। उसी प्रकार यह समस्त जगत इस संसार में महामोह से मूढ़ हो रहा है। और इसे अपने हित अहित का जरा भी ध्यान नहीं है, इसलिये शुद्धचिद्रूप के ध्यान की सहायता से मैं इसका उद्धार करना चाहता हूं॥२०॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं ।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥२१॥

अर्थ—संसार में सिवाय शुद्धचिद्रूप के ध्यान के जितने कार्य हैं, सब मोहज—मोह के द्वारा उत्पन्न हैं। सबकी उत्पत्ति में प्रधान कारण मोह है। तथा मोह से कर्मों का बंध और उससे अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं; इसलिये सबसे अधिक जीवों का वैरी मोह ही है॥२१॥

मोहं तज्जातकार्याणि संगं हित्वा च निर्मलम् ।

तरंगिणी अध्याय ६ १२३

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यान कुरु त्यक्त्वान्यसगतिम् ॥२२॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूप ध्यानाय मोहत्याग प्रतिपादको नवमोऽध्याय ॥९॥

अर्थ— अत. जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे मोह और उससे उत्पन्न हुए समस्त कार्यों का सर्वथा त्याग कर दें। उनकी ओर झाककर भी न देखें। और समस्त पर द्रव्यों से ममता छोड़ केवल शुद्धचिद्रूप का ही मनन ध्यान और स्मरण करें ॥२२॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप का ध्यान करने के लिये मोह के त्याग का वर्णन करनेवाला नववा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दसवॉ अध्याय ।

निरतरमहकार मूढा. कुर्वन्ति तेन ते ।
स्वकीय शुद्धचिद्रूपं विलोकते न निर्मल ॥१॥

अर्थ – मूढ़ पुरुष निरन्तर अहकार के वश रहते हैं। देहादि पर पदार्थों में आत्म बुद्धि किये हुए हैं, इस लिये अतिशय निर्मल अपने शुद्धचिद्रूप की ओर वे जरा भी नहीं देखने पाते।

भावार्थ— शरीर आदि पर पदार्थों में अहंबुद्धि होना उन्हें आत्मा समझना ही अहंकार है। और यह शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति का बाधक है। अहंकारी मनुष्य शरीर आदि पर पदार्थों में ही आत्मबुद्धि करते हैं। शुद्धचिद्रूप की ओर झांक कर भी नहीं देखने पाते। इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे अहंकार का सर्वथा परित्याग करदें ॥१॥

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा ॥२॥
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहम् ।
इत्यादिचिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥३॥

अर्थ— मैं देह स्वरूप हूं, कर्म स्वरूप हूं, मनुष्य हूं, कृश हूं, स्थूल हूं, गोरा हूं, काला हूं, ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय वैश्य आदि हूं, ब्राह्मण हूं, मूर्ख हूं, विद्वान हूं, निर्धन हूं, धनवान हूं, इत्यादि रूपसे मनमें विचार करना अहंकार है। मूढ़ मनुष्य इसी अहंकार में चूर रहते हैं ॥२॥३॥

ये नरा निरहंकारं वितन्वंति प्रतिक्षणम् ।
अद्वैतं ते स्वचिद्रूपं प्राप्नुवन्ति न संशयः ॥४॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रतिसमय निरहंकारता प्रकट करते रहते हैं। अहंकार नहीं करते, उन्हें निसन्देह अद्वैत स्वरूप शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है ॥४॥

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किन्तु चिद्रूपलक्षणः ॥५॥
चिंतनं निरहंकारो भेदविज्ञानिनामिति ।
स एव शुद्धचिद्रूपलब्धये कारणं परम् ॥६॥

अर्थ—जो मनुष्य भेद विज्ञानी हैं। जड़ और चेतन का वास्तविक भेद जानते हैं। उनका न मैं देह स्वरूप हूं, न कर्म स्वरूप हूं, न मनुष्य हूं, न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय आदि हूं, न स्थूल हूं, न कृश हूं, किन्तु शुद्ध चिद्रूप स्वरूप हूं, इस प्रकार का चिंतवन करना निरहंकार- अहंकार का अभाव है। और यह निरहंकार शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है ॥५॥६॥

ममत्वं ये प्रकुर्वन्ति परवस्तुषु मोहिनः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषां स्वप्नेऽपि नो भवेत् ॥७॥

अर्थ — जो मूढ़ जीव पर पदार्थों मे ममता रखते हैं, उन्हे अपनाते हैं, उनको स्वप्न मे भी शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

भावार्थ—ससार में सिवाय शुद्धचिद्रूप के अपना कोई पदार्थ नहीं। स्त्री पुत्र मित्र आदि सब पर पदार्थ है। इसलिये जो जीव निज पदार्थ शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति करना चाहते हैं, उन्हे पर पदार्थों मे किसी प्रकार का ममत्व न रखना चाहिये ॥७॥

शुभाशुभानि कर्माणि मम देहोऽपि वा मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता मम जायात्मजात्मजः ॥८॥
गौरश्वोऽजो गजो रा विरापणं मंदिरं मम ।
पू राजा मम देशश्च ममत्वमिति चिंतनम् ॥९ युग्मम्॥

अर्थ—शुभ अशुभ कर्म मेरे है। शरीर पिता माता बहिन भाई स्त्री पुत्री पुत्र गाय अश्व बकरी हाथी धन पक्षी दूकान मकान मेरे है और पुर राजा और देश भी मेरे हैं। इस प्रकार का मन मे चिंतवन करना ममत्व है। अर्थात् इनको अपनाना ममत्व कहलाता है। ॥९॥

निर्ममत्वेन चिद्रूपप्राप्तिर्जाता मनीषिणाम् ।
तस्मात्तदर्थिना चिंत्य तदेवैक मुहुर्मुहुः ॥१०॥

अर्थ--जिन किन्हीं विद्वान मनुष्यों को शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हुई है, उन्हें शरीर आदि पर पदार्थों मे ममता न रखने से ही हुई है; इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे निर्ममत्व का ही बार बार चिंतवन करें। उसी की ओर अपनी दृष्टि लगावें ॥१०॥

शुभाशुभानि कर्माणि न मे देहोपि नो मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता न मे जायात्मजात्मज ॥११॥
गोरश्वो गजो रा विरापणं मंदिर न मे ।
पू राजा मे न देशो निर्ममत्वमिति चिंतनम् ॥१२॥

अर्थ--शुभ अशुभ कर्म मेरे नहीं हैं। देह, पिता माता बहिन, भाई, स्त्री, पुत्री, पुत्र, गाय अश्व, हाथी, धन, पक्षी, दूकान, मकान, पुर, राजा और देश भी मेरे नहीं। इस प्रकार का जो मन में चिन्तवन करना है, वह निर्ममत्व है ॥११॥१२॥

मभेतिचिंतनाद् वधो मोचनं न ममेत्यतः ।
वधनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ॥१३॥

अर्थ—स्त्री, पुत्र, आदि मेरे हैं। इस प्रकार के विचार करने से कर्मों का वध होता है। और ये मेरे नही, ऐसा विचार करने से कर्म नष्ट होते हैं, इसलिये मम (मेरे) ये दो अक्षर तो कर्म वध के कारण हैं। और मम न (मेरे नही) इन तीन अक्षरो के चिन्तवन करने से कर्मों से मुक्ति होती है ॥१३॥

निर्ममत्व पर तत्त्व ध्यानं चापि व्रतं सुखम् ।
शील खरोधनं तस्मान्निर्ममत्त्वं विचिंतयेत् ॥१४॥

अर्थ—यह निर्ममत्व सर्वोत्तम तत्त्व है। परम-ध्यान, परमव्रत, परम सुख, और परम शील है। इस से इद्रियों के विषयों का निरोध होता है ; इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे इस शुद्ध चिद्रूप का ही ध्यान करें ॥१४॥

याता ये यांति यास्यंति भदंता मोक्षमव्ययम् ।
निर्ममत्वेन ते तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१५॥

अर्थ – जो मुनिगण मोक्ष गये, जा रहे हैं और जायगे। उनके मोक्ष की प्राप्ति मे यह निर्ममत्व ही कारण है। इसी की कृपा से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई है। इसलिये मोक्षाभिलाषियों को निर्ममत्व का ही ध्यान करना चाहिये ॥१५।

निर्ममत्वे तपोऽपि स्यादुत्तम पचम व्रतम् ।
धर्मोऽपि परमस्तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१६॥

अर्थ--पर पदार्थों की ममता न रखने से, भले प्रकार निर्ममत्व के पालन करने से, उत्तम तप और पांचवें निष्परिग्रह नामक व्रतका पूर्ण रूपसे पालन होता है। सर्वोत्तम धर्म की भी प्राप्ति होती है। इसलिये यह निर्ममत्व ही ध्यान करने योग्य है ॥१६॥

निर्ममत्वाय न क्लेशो नान्ययाच्ञा न चाटनम् ।
न चिंता न व्ययस्तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१७॥

अर्थ—इस निर्ममत्व के लिये न किसी प्रकार का क्लेश भोगना पड़ता है। न किसी से कुछ मांगना और न इधर उधर भ्रमण करना पडता है। किसी प्रकार की चिंता और द्रव्य का व्यय भी नहीं करना पड़ता। इसलिये निर्ममत्व ही ध्यान करने के योग्य है ॥१७॥

नास्रवा निर्ममत्वेन न बधोऽशुभकर्मणाम् ।
नासयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१८॥

अर्थ—इस निर्ममत्व की ओर झुकने से अशुभ कर्म का आस्रव और बंध नहीं होता। संयम में भी किसी प्रकार की हानि नहीं आती। वह भी पूर्ण रूप से पलता है, इसलिये यह निर्ममत्व ही चिंतवन करने के योग्य पदार्थ है ॥१८॥

सद्दृष्टिर्ज्ञानवान् प्राणी निर्ममत्वेन संयमी।
तपस्वी च भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१९॥

अर्थ—इस निर्ममत्व की कृपा से जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानवान संयमी और तपस्वी कहलाता है; इसलिये जीवों को निर्ममत्व का ही चिंतवन कार्य कारी है ॥१९॥

रागद्वेषादयो दोषा नश्यंति निर्ममत्वतः।
साम्यार्थी सततं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२०॥

अर्थ—इस निर्ममत्व के भले प्रकार पालन करने से राग द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं, इसी लिये जो मनुष्य समता (शांति) के अभिलाषी हैं। अपनी आत्मा को संसार के दुखों से मुक्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे अपने मन को सब ओर से हटाकर शुद्धचिद्रूप की ओर लगावें। उसी का भले प्रकार मनन ध्यान और स्मरण करें ॥२०॥

विचार्येत्थमहंकारममकारौ विमुचति ।
यो मुनिः शुद्धचिद्रूपध्यानं स लभते त्वरा ॥२१॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानाया हंकारममकारत्यागप्रतिपादको दशमोऽध्याय ॥ १०॥

अर्थ—इस प्रकार जो मुनि अहंकार और ममकार को अपने वास्तविक स्वरूप शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के नाश करनेवाले समझ उनका सर्वथा त्याग कर देता है। अपने मन को रचमात्र भी उनकी ओर जाने नहीं देता, उसे शीघ्र ही संसार में शुद्धचिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—इस शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति से ही निराकुलतामय सुख मिल सकता है, इसलिये उसी का ध्यान करना आवश्यक है। परन्तु जबतक स्त्री पुत्र आदि पर पदार्थ मेरे हैं, और मैं उनका हूं वा मैं देह स्वरूप, कर्म स्वरूप हूं, ऐसा विचार चित्त के अंदर बना रहता है। तबतक कदापि शुद्धचिद्रूप का ध्यान नहीं हो सकता। इस लिये जो मुनिगण शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे अहंकार ममकार का सर्वथा त्याग करदें। और शुद्धचिद्रूप के ध्यान की ओर अपना चित्त झुकावें ॥२१॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप का ध्यान करने के लिये अहंकार ममकार के त्याग का वर्णन करनेवाला दशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०॥

ग्यारहवाँ अध्याय ।

शांताः पांडित्ययुक्ता यमनियमबलत्यागरैवृत्तवन्तः,
सद्वोशीलास्तपोर्चानुतिनातिकरणा मौनिनः संत्यसंख्याः ।
श्रोतारश्च कृतज्ञा व्यसनखजयिनोऽत्रोपसर्गोमिधीराः ।
निःसंगा शिल्पिनः कश्चन तु विरलः शुद्धचिद्रूपरक्तः ॥१॥

अर्थ — यद्यपि संसार मे शांतचित्त, विद्वान, यमवान, नियमवान, बलवान, धनवान, चारित्रवान, उत्तमवक्ता, शीलवान, तप, पूजा, स्तुति और नमस्कार करने वाले मौनी, श्रोता, कृतज्ञ, व्यसन और इंद्रियों के जीतने वाले, उपसर्गों के सहने मे धीरवीर, परिग्रहों से रहित, और नाना प्रकार की कलाओं के जानकार असंख्य मनुष्य हैं। तथापि शुद्धचिद्रूप के स्वरूप मे अनुरक्त कोई एक विरला ही है।

भावार्थ — यह संसार नानाप्रकार के जीवों का स्थान है। इसमे बहुत से मनुष्य शांतचित्त हैं। बहुत से विद्वान हैं। बहुत से यमवान्, नियमवान्, बलवान्, दानवान्, धनवान्, और चारित्रवान् हैं। अनेक उत्तम वक्ता, शीलवान्, तप पूजा स्तुति और नमस्कार करनेवाले भी हैं। बहुत से मौनी श्रोता आदि भी हैं। परन्तु शुद्ध चिद्रूप के स्वरूप मे लीन बहुत ही कम है ॥१॥

ये चैत्यालयचैत्यदानमहसद्यात्राकृतौ कौशला-
नानाशास्त्रविदः परीषहसहा रक्ताः परोपकृतौ ।
निःसंगाश्च तपस्विनोऽपि बहवस्ते संति ते दुर्लभा-
रागद्वेषविमोहवर्जनपराश्चित्तत्त्वलीनाश्च ये ॥२॥

अर्थ—संसार में अनेक मनुष्य जिन मन्दिरों का निर्माण प्रतिमाओं का दान उत्सव और तीर्थों की यात्राएँ करने में प्रवीण हैं। नाना शास्त्र के जानकार परिषहों के सहन करने वाले, परोपकार में रत, समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और तपस्वी भी हैं। परन्तु राग द्वेष और मोह के सर्वथा नाश करने वाले एवं शुद्ध चिद्रूपरूपी तत्त्व में लीन बहुत ही थोड़े हैं ॥२॥

गणकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रज्ञाः ।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभा नहि तत्त्ववेत्तारः ॥३॥

अर्थ— ज्योतिषी, वैद्य, नैयायिक पुराण के वेत्ता, गृहनिर्माण विद्यापारगामी, व्याकरण शास्त्र के जानकार और संगीत आदि कलाओं में भी प्रवीण बहुत से मनुष्य हैं। परन्तु तत्त्वों के जानकार नहीं हैं ॥३॥

सुरूपबललावण्यधनापत्यगुणान्विताः ।

गांभीर्यधैर्यधौरेयाः सन्त्यसंख्या न चिद्रताः ॥४॥

अर्थ—उत्तम रूप, बल लावण्य, धन, सतान और गुणों से भूषित भी बहुत से मनुष्य हैं। गंभीर, धीर और वीर भी असंख्य हैं। परन्तु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति मे लीन बहुत ही कम मनुष्य हैं ॥४॥

जलद्यूतवनस्त्रीवियुद्धगोलकगीतिषु।
क्रीडन्तोऽत्र विलोक्यन्ते घनाः कोऽपि चिदात्मनि ॥५॥

अर्थ- अनेक मनुष्य जलक्रीड़ा, जुआ, वनविहार, स्त्रियों के विलास, पक्षियों के युद्ध, गोलीमार क्रीडा और गायन आदि मे भी दत्तचित्त दिखाई देते हैं। परन्तु चिदात्मा मे विहार करने वाला कोई विरला ही दीखता है ॥५॥

सिंहसर्पगजव्याघ्राहितादीनां वशीकृतौ।
रताः सन्त्यत्र बहवो न ध्याने स्वचिदात्मनः ॥६॥

अर्थ—इस संसार में बहुत से मनुष्य सिंह, सर्प, हाथी, व्याघ्र और अहितकारी-शत्रु आदि के भी वश करने वाले हैं। परन्तु शुद्ध चिद्रूप के ध्यान करने वाले नहीं हैं ॥६॥

जलाग्निरोगराजाहिचौरशत्रुनभस्वताम्।

दृश्यंते स्तंभने शक्ता नान्यस्य स्वात्मचिंतया ॥७॥

अर्थ—जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, वैरी और पवन के स्तंभन करने में—उनकी शक्ति को दबा देने में भी बहुत से मनुष्य समर्थ हैं। परन्तु आत्मध्यान द्वारा परपदार्थों से अपना मन हटाने के लिये सर्वथा असमर्थ हैं।

भावार्थ—यद्यपि जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, वैरी आदि पदार्थ संसार में अत्यन्त भयंकर हैं। इनसे अपनी रक्षा करलेना अति कठिन बात है। तथापि बहुत से ऐसे भी बलवान मनुष्य हैं, जो इन्हें देखते ही देखते वश करलेते हैं। परन्तु वे भी अपने आत्मध्यान के लिये परपदार्थों में ममत्व दूर करने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥७॥

प्रतिक्षणं प्रकुर्वन्ति चिन्तनं परवस्तुनः।
सर्वे व्यामोहिता जीवाः कदा कोऽपि चिदात्मनः ॥८॥

अर्थ— इस संसार में रहनेवाले जीव प्रायः मोह के जाल में जकड़े हुए हैं। उन्हें अपनी सुध बुध का कुछ भी होश हवास नहीं है, इसलिये प्रतिक्षण वे परपदार्थों का ही चिन्तवन करते रहते हैं। उन्हें ही अपनाते हैं। परन्तु शुद्धचिदात्मा का कोई विरला ही चिंतवन करता है ॥८॥

दृश्यन्ते बहवो लोके नानागुणविभूषिताः।
विरलाः शुद्धचिद्रूपे स्नेहयुक्ता व्रतान्विताः ॥९॥

अर्थ—बहुत से मनुष्य संसार में नानाप्रकार के गुणों से भूषित रहते हैं। परन्तु ऐसे मनुष्य विरले ही हैं, जो शुद्धचिद्रूप में स्नेह करने वाले और व्रतों से भूषित हों ॥९॥

एकेंद्रियादसंज्ञाख्याःपूर्णं पर्यन्तदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ॥ १० ॥
पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यताम् ।
नृत्वं चालभ्य तादृशा भवन्त्यार्याः सुबुद्धयः ॥ ११ ॥

अर्थ – एकेन्द्रिय से लेकर पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जो जीव इस संसार में अनन्तानन्त भरे हुए हैं, उनमें तो शुद्धचिद्रूप के ध्यान करने की सामर्थ्य ही नहीं है। परन्तु जो जीव पंचेन्द्रिय संज्ञी (मन सहित) पर्याप्त हैं, उनमें भी जो आर्य स्वपर स्वरूप के भले प्रकार जानकार हैं; और आसन्नभव्य बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं। वे ही शुद्धचिद्रूप का ध्यान कर सकते हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

शुद्धचिद्रूपसंलीनाः सव्रता न कदाचन।
नरलोकवहिर्भागेऽसंख्यातद्वीपवार्धिषु ॥ १२ ॥

अर्थ— ढाई द्वीपतक मनुष्य क्षेत्र है। और उसके आगे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें रहने वाले भी

जीव कभी शुद्धचिद्रूप म लीन और व्रतों से भूषित नहीं हो सकते ॥ १२ ॥

अधोलोके न सर्वस्मिन्नूर्ध्वलोकेऽपि सर्वत· ।
ते भवन्ति न ज्योतिष्के हा हा क्षेत्रस्वभावत. ॥ १३ ॥

अर्थ—समस्त अधोलोक ऊर्ध्वलोक और ज्योतिर्लोक म भी क्षेत्र के स्वभाव से जीव व्रतों क आचरण सहित शुद्धचिद्रूप का ध्यान नही कर सकते ॥ १३ ॥

नरलोके पि ये जाता नरा. कर्मवशाद् घना. ।
भोगभूम्लेच्छखण्डेषु ते भवन्ति न तादृशाः ॥ १४ ॥

अर्थ—मनुष्य क्षेत्र मे भी जो जीव भोगभूमि और म्लेच्छ खण्ड म उत्पन्न हुए है। उन्हें भी सघन रूप से कर्मों द्वारा जकडे हुए होने के कारण शुद्धचिद्रूप का ध्यान और व्रतों का आचरण करने का अवसर प्राप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

आर्यखण्डभवाः केचिद् विरलाः संति तादृशा· ।
अस्मिन् क्षेत्रे भवा द्वित्राः स्युरद्य न कदापि वा ॥ १५ ॥

अर्थ—परन्तु जो जीव आर्यखण्ड मे उत्पन्न हुए हैं, उनमे से भी विरले ही शुद्धचिद्रूप के ध्यानी और व्रतों के पालक होते हैं। तथा इस भरतक्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले तो इस समय दो तीन ही हैं। अथवा है ही नहीं ॥ १५ ॥

अस्मिन् क्षेत्रेऽधुना संति विरला जैनपाक्षिकाः ।
सम्यक्त्वसहितास्तत्र तत्राणुव्रतधारिणः ॥ १६ ॥
महाव्रतधरा धीराः संति चात्यंतदुर्लभाः ।
तत्त्वातत्त्वविदस्तेषु चिद्रक्तोऽत्यंतदुर्लभः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस क्षेत्र में प्रथम तो इस समय सम्यग्दृष्टि पाक्षिक जैनी विरले २ ही हैं। यदि वे भी मिल जाय तो अणुव्रत धारी मिलने कठिन हैं। अणुव्रतधारी भी हों तो धीर-वीर महाव्रतधारी दुर्लभ हैं। यदि वे भी हो तो तत्त्व अतत्त्वों के जानकार बहुत कम हैं। यदि वे भी प्राप्त हो जाय तो शुद्धचिद्रूप मे रत मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं।

भावार्थ—इस संसार में सदा अनन्त जीव निवास करते रहते हैं। उनमे जिन वचन और जिनेन्द्रदेव के श्रद्धानी पाक्षिक मनुष्य बहुत कम है। उनमे भी कम अणुव्रतो के पालक है। उनसे भी कम धीर वीर महाव्रती हैं। महाव्रतियो से कम तत्त्व अतत्त्वों के जानकार हैं। और उनसे भी कम चिद्रूप के प्रेमी हैं। इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति को अति दुर्लभ मान-उसी का ध्यान करें ॥ १६ ॥ १७ ॥

तपस्विपात्रविद्वत्सु गुणिसद्गतिगामिषु ।
वद्यस्तुत्येषु विज्ञेयः स एवोत्कृष्टतां गतः ॥१८॥

अर्थ— जो महानुभाव शुद्धचिद्रूप के ध्यान में अनुरक्त हैं। वे ही तपस्वी उत्तम पात्र विद्वान गुणी समीचीन मार्ग के अनुगामी और उत्तम वदनीय स्तुत्य मनुष्यों में उत्कृष्ट हैं ॥ १८ ॥

उत्सर्पिण्यवसर्पणकालेऽनाद्यन्तवर्जिते स्तोका ।
चिद्रक्ता व्रतयुक्ता भवन्ति केचित्कदाचिच्च ॥१६॥

अर्थ—इस अनादि अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में शुद्धचिद्रूप के ध्यानी और व्रतोंके धारक बहुत ही कम मनुष्य होते हैं। और वे भी कभी किसी समय, प्रतिसमय नहीं।

भावार्थ— जिसमें मनुष्यों की आयु बलवीर्य आदि वृद्धिगत हों, वह उत्सर्पिणी काल है। और जिसमें आयु आदि की कमी होती जाय, उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। यह जो काल का अनादि अनंत प्रवाह है, उसमें कभी किसी समय शुद्धचिद्रूप के ध्यानी और व्रतों के पालक मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं, प्रति समय नहीं। तथा वे भी बहुत कम, अधिक नहीं ॥१६॥

मिथ्यात्वादिगुणस्थानचतुष्के सभवन्ति न ।
शुद्धचिद्रूपके रक्ता व्रतिनोपि कदाचन ॥ २० ॥
पंचमादिगुणस्थानदशके तादृशोऽगिनः ।
स्युरिति ज्ञानिना ज्ञेयं स्तोकजीवसमाश्रिते ॥ २१ ॥

अर्थ — मिथ्यात्व गुण स्थान से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान पर्यन्त जीव कभी शुद्धचिद्रूप के ध्यानी और व्रती नहीं हो सकते । किंतु देशविरत पचम गुणस्थान से लेकर अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त के जीव ही शुद्धचिद्रूप के ध्यानी व्रती होते हैं । इसलिये शुद्धचिद्रूप का ध्यान और व्रतों का पालन बहुत थोड़े जीवों में है ।

भावार्थ — मिथ्यात्व सासादन मिश्र अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरत को आदि लेकर अयोग केवली [illegible] चार गुणस्थानवर्ती जीवों के न तो शुद्धचिद्रूपमें लीनता हो सकती [illegible] सकते हैं । क्योंकि चौथे गुणस्थान में केवल श्रद्धान ही [illegible] शुद्धचिद्रूप के प्रेमी और व्रती [illegible] शुद्धचिद्रूप के ध्यानी होते हैं । इस [illegible] ॥ २० ॥ २१ ॥

दृश्यन्ते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्राम्बिकासु,
ग्रामे गेहे स्वभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये ।
आहार्येऽङ्गे वनादौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे,
सक्ताश्च प्रेषणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपासक्तो विरल इति प्रतिपादक एकादशोऽध्यायः ॥ ११॥

अर्थ—इस संसार में कोई मनुष्य तो इत्र फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थों में अनुरक्त हैं। और बहुत से छोटा भाई पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गाय, घर इन्द्रियों के भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजकार्य, खाने योग्य पदार्थ, शरीर, वन व्यसन, खेती, कुआ, बावडी, और तालाबों में प्रेम करने वाले हैं, और बहुत से अन्य मनुष्यों के इधर उधर भेजने में यश और पशुगणों की रक्षा करने में अनुराग करने वाले हैं। परन्तु शुद्ध चिद्रूप का अनुरागी कोई भी मनुष्य नहीं है।

भावार्थ—संसार में मनुष्य भिन्न २ प्रकृतियों के हैं। और उन्हें प्रीति उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं। अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो इत्र फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थों को ही प्रिय और उत्तम मानते हैं। बहुतों को छोटे भाई पुत्र पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गाय, घर, इंद्रियों के भोग, पर्वत, नगर पक्षी, सवारी, राजा

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनम् ।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥४॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वर ने एक साथ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति को रत्नत्रय कहा है।

भावार्थ—गुण, गुणी से कभी भिन्न नहीं हो सकते, इसलिये जितने गुण हैं, वे अपने गुणियों के स्वरूप हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी आत्मा के गुण हैं। न कभी ये आत्मा से जुदे रह सकते हैं और न सिवा आत्मा के किसी पदार्थ मे ही पायेजाते हैं। हा, यह बात अवश्य है, कि विरोधी कर्मों की मौजूदगी म ये प्रच्छन्न रूप से रहते हैं। परन्तु जिस समय इनके विरोधी कर्म नष्ट हो जाते हैं। ये तीनो एक साथ आत्मा मे प्रकट हो जाते हैं। उसी समय की अवस्था को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। यह रत्नत्रय की प्राप्ति ही शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति मे असाधारण कारण है ॥ ४ ॥

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्विधा तत्परिकीर्त्तितम् ।
सत्यस्मिन् व्यवहारे तन्निश्चयं प्रकटीभवेत् ॥ ५ ॥

और तभी शुद्धचिद्रूप का लाभ हुआ है ॥१ ॥

विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूप न प्रपन्नवान् ।
कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरःक्वचित् ॥२॥

अर्थ-विना रत्नत्रय के प्राप्त किये आजतक किसी मनुष्य ने कहीं कभी किसी दूसरे उपाय से शुद्धचिद्रूप को प्राप्त न किया। सभी ने पहिले रत्नत्रय को पाकर ही शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति की है ॥२॥

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोलब्धिर्न जायते ।
यथर्द्धिस्तपसः पुत्रीपितु र्वृष्टिर्वलाहकात् ॥३॥

जिस प्रकार तप के विना ऋद्धि, पिता के विना पुत्री, और मेघ के विना वर्षा नहीं हो सकती उसी प्रकार विना रत्नत्रय की प्राप्ति के शुद्धचिद्रूप की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिसप्रकार ऋद्धि की प्राप्ति म तप पुत्री की उत्पत्ति में पिता, और वर्षा की उत्पत्ति में मेघ, असाधारण निमित्त कारण हैं। विना तप आदि के ऋद्धि आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण कारण रत्नत्रय है। विना इसे प्राप्त किये शुद्धचिद्रूप का लाभ नहीं हो सकता ॥३॥

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च ।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ--जो महानुभाव सत्‌रूप से समस्त पदार्थों का विश्वास कराता है। अनेकांत रूप से समस्त वचनों को बोलता है और जिसको यह श्रद्धान है, कि समस्त जगत् ज्ञान से व्याप्त है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ - मेरु आदि पदार्थ ऐसे हैं, जिन्हें नेत्र से नहीं देख सकते। लेकिन सर्वज्ञ के वचन से उनके अस्तित्व का निश्चय कर उनकी मौजूदगी का श्रद्धान करना पड़ता है; इसलिये जिस महानुभाव को मेरु आदि के अस्तित्व से उनके मौजूदगी का श्रद्धान है। वचनों में किसी प्रकार का विरोध न आजाय; इसीलिये जो अनेकांतवाद पर पूर्ण विश्वासकर उसकी सहायता से वचन बोलता है। और यह समस्त जगत ज्ञान के गोचर है। इसके मध्य में रहने वाले पदार्थ ज्ञान के द्वारा स्पष्ट रूप से जाने जा सकते हैं। ऐसा जिसको पूर्ण श्रद्धान, वह व्यवहार नय से सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ॥७॥

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचि र्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशनम् ॥८॥

अर्थ - आत्मिक शुद्धचिद्रूप में जो रुचि करना है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। और यह कर्मरूपी इंधन

अर्थ—यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। और व्यवहार रत्नत्रय के होते ही निश्चय रत्नत्रय की प्रकटता होती है।

भावार्थ—जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान, ज्ञान और कर्मोंके नष्ट करने केलिये तप आदि करना चारित्र, यह तो व्यवहार रत्नत्रय है। और निश्चय रत्नत्रय आत्म स्वरूप है। परन्तु विना व्यवहार रत्नत्रय के निश्चय रत्नत्रय कभी प्राप्त नहीं हो सकता इसलिये निश्चय रत्नत्रय में व्यवहार रत्नत्रय कारण है ॥ ५ ॥

श्रद्धान दर्शन ससतत्त्वाना व्यवहारत ।
अष्टाग त्रिविध प्रोक्तं तदोपशमिकादितः ॥ ६ ॥

अर्थ—व्यवहारनय से सातों तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और इसके आठ अग है। तथा यह औपशमिक चायिक एव चायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है।

भावार्थ—जीव अजीव आस्रव बन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। भगवान जिनेन्द्रने जो इनका स्वरूप बतलाया है, वह उसी प्रकार से है, अन्यथा नहीं। इसप्रकार का इनमे श्रद्धान विश्वास रखना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके निःशकित, निष्काचित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अग हैं। और औपशमिक चायिक और चायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—तत्त्वो का स्वरूप यही है, और ऐसा ही है। भगवान जिनेन्द्र ने जो कुछ उनके विषय मे कहा है,उससे अन्यथा नहीं हो सकता। इस प्रकार जैनशास्त्र और जिन भगवान मे जो गाढ़ रुचि रखना है, वह निश्शंकिताग है। देव और मनुष्य भव के सुख को पाप का कारण जान उसके लिये लालसा प्रकट न करना निष्कांचित अंग है। महा अपवित्र इस शरीर से निकलते हुए रुधिर आदि को देखकर ग्लानि न करना, दूसरों को रुग्ण देख उनसे मुख न मोड़ना, निर्विचिकित्सित अग है। मिथ्यामार्ग व उनके भक्तों से किसी प्रकार का धार्मिक सबध न रखना, उनके मिथ्यात्व की अपने मुख से प्रशसा न करना, अमूढदृष्टि अग है। यदि कोई अज्ञानी पवित्र जैन मार्ग की निन्दा करे तो उसके दूर करने का उपाय करना उपगूहन अंग है। सम्यग्दर्शन आदि से विचलित मनुष्यो को पुनः सम्यग्दर्शन आदि मे दृढ़ कर देना स्थितिकरण अग है। सहधर्मी भाइयों मे गौ बछड़े के समान प्रीति रखना वात्सल्य अग है। और जैन मार्ग के अतिशय प्रकट करने के लिये विद्यालय खोलना आदि उपाय करना, प्रभावना अंग है। जो महानुभाव इन आठो अगो के साथ २ सम्यग्दर्शन धारण करता है, उसे मोक्ष की अवश्य प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अष्टधाचारसयुक्त ज्ञानमुक्त जिनेशिना ।
व्यवहारनयात् सर्वतत्त्वोद्भासो भवेद्यतः ॥ ११ ॥

के लिए जाज्वल्यमान अग्नि है। निश्चय सम्यग्दर्शन के आश्रय से समस्त कर्म जलकर खाक हो जाते हैं ॥८॥

यदि शुद्ध चिद्रूपं निजं समस्तं त्रिकालगं युगपत् ।
जानन् पश्यन् पश्यति तदा स जीवः सुदृक् तत्त्वात् ॥९॥

अर्थ – जो जीव तीन काल में रहनेवाले अपने शुद्ध चिद्रूप को एक साथ जानता देखता है, वास्तवि
दृष्टि से वही सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ – ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा समस्त पर्
रहती हैं। आत्मा की भी ज्ञान दर्शन आदि
त्रिकालवर्ती अपने समस्त शुद्ध

व्यवहार चारित्र कहते हैं। और वह तेरह प्रकार का है।

भावार्थ— अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र है। और वह अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह ये पाच प्रकार के व्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पाच समितिया एव वाग्गुप्ति कायगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन प्रकार की गुप्तिया इस तरह तेरह प्रकार का है ॥१४॥

मूलोत्तरगुणानां यत्पालनं मुक्तये मुनेः।
दृशा ज्ञानेन सयुक्तं तच्चारित्रं न चापरम् ॥ १५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जो मूल और उत्तर गुणों का पालन करना है, वह चारित्र है। अन्य नहीं। तथा यही चारित्र मोक्ष का कारण है ॥१५॥

सगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियम्।
यः स्मरेत् शुद्धचिद्रूप वृत्तं तस्य किलोत्तमम् ॥ १६ ॥

अर्थ— बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का सर्वथा त्यागकर, नग्नमुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होकर जो शुद्धचिद्रूप का स्मरण करता है, उसी के उत्तम चारित्र होता है ॥ १६ ॥

ज्ञप्त्या दृष्ट्या युतं सम्यक्चारित्रं तन्निरुच्यते।

स्वस्वरूपपरिज्ञान तज्ज्ञान निश्चयाद्वरम् ।
कर्मरेणूच्चये वात हेतु विद्धि शिवश्रियः ॥ १२ ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र ने व्यवहारनय से आठ प्रकार के आचारो से युक्त ज्ञान बतलाया है। और उससे समस्त पदार्थों का भले प्रकार प्रतिभास होता है। परन्तु जिससे स्व स्वरूप का ज्ञान हो। जो शुद्धचिद्रूप को जानें वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय सम्यग्ज्ञान समस्त कर्मों का नाशक है। और मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति म परम कारण है। इससे मोक्ष सुख अवश्य प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजे भवेत्तत्त्वात् ।
तत्परमज्ञान स्याद्बाहिरतरसंगमुक्तस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—मोह के सर्वथा नाश हो जानेपर बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित पुरुष का जो आत्मिक शुद्धचिद्रूप का अनुभव करना है, वही वास्तविक रूप से परमज्ञान है ॥ १३ ॥

निवृत्ति यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकार तच्चारित्र व्यवहारत' ॥ १४ ॥

अर्थ—जहा पर सावद्य—हिंसा के कारण रूप कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति हो, उसे

यदि चिद्रूपे शुद्धे स्थितिर्निजे भवति दृष्टिबोधबलात् ।
परद्रव्यस्यास्मरणं शुद्धनयाद्गिनो वृत्तम् ॥१९॥

अर्थ—यदि इस जीव को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बल से शुद्धचिद्रूप में निश्चल रूप से स्थिति हो जाय । और पर पदार्थों से सर्वथा प्रेम हटजाय, तो उसी को शुद्ध निश्चय नय से चारित्र समझना चाहिये ।

भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूप में निश्चल रूप से स्थिति नहीं होती, और पर पदार्थों से प्रेम नहीं हटता, तबतक कदापि निश्चय चारित्र की प्राप्ती नहीं हो सकती, इसलिये निश्चय चारित्र की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वानो को चाहिये, कि वे शुद्धचिद्रूप मे निश्चल रूप से स्थिति करें । और पर पदार्थों से प्रेम हटावें ॥१९॥

रत्नत्रयं किल ज्ञेय व्यवहारं तु साधनम् ।
सद्भिश्च निश्चयं साध्य मुनीनां सद्विभूषणम् ॥२०॥

अर्थ- निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति मे व्यवहार रत्नत्रय साधन (कारण) है । और निश्चय रत्नत्रय साध्य है ! तथा यह निश्चयरत्नत्रय मुनियों का उत्तम भूषण है ।

रत्नत्रयं पर ज्ञेय व्यवहार च निश्चयम् ।

सतां सेव्यं जगत्पूज्य स्वर्गादिसुखसाधनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही सम्यक्चारित्र सज्जनों को आचरणीय है, और वह ही समस्त ससार म पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखों को प्राप्त कराने वाला है।

भावार्थ--सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ऐसे कारण हैं, कि इनमें एक भी कम हो जाने पर मोक्ष सुख नहीं मिल सकता। यदि चाहें कि बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के केवल सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष सुख मिल जाय तो यह कभी नहीं हो सकता। किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ रहनेवाले सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष सुख मिल सकता है, इसलिये ऐसा चारित्र ही सज्जनों का परम आदरणीय और जगत्पूज्य है ॥ १७ ॥

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरत्यन्तनिश्चला ।
तच्चारित्र परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ॥ १८ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धस्वरूप में जो निश्चल रूप से स्थिति है, उसे निश्चय चारित्र कहते हैं। और इस चारित्र की प्राप्ति से समस्त कर्मों का अवश्य ही नाश हो जाता है। अर्थात् निश्चय चारित्र के प्राप्त होते ही जीव समस्त कर्मों का नाशकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

तेरहवॉ-अध्याय ।

विशुद्ध वसनं श्लाघ्य रत्न रूप्यं च कान्चनम् ।
भाजनं भवन सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा ॥ १ ॥

अर्थ--जिस प्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चादी, सोना, पात्र आर भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशस्य गिने जाते है । उसी प्रकार यह शुद्धचिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशस्य है ॥१॥

रागादिलक्षणः पुंसि संक्लेशोऽशुद्धता मता ।
तन्नाशो येन चांशेन तेनाशेन विशुद्धता ॥ २ ॥

अर्थ --पुरुप मे राग द्वेप आदि लक्षण का धारक सक्लेश अशुद्धपना कहा जाता है । और जितने अश मे राग द्वेप आदि का नाश हो जाता है, उतने अंश मे विशुद्धपना कहा जाता है ।

भावार्थ -यदि शुद्धनिश्चय नय से देखा जाय तो यह आत्मा सर्वथा विशुद्ध है । परन्तु राग द्वेप आदि के संबन्ध से अशुद्ध हो जाता है । किन्तु जितने अंश मे राग द्वेप आदि नष्ट होते जाते हैं । उतने अश मे यह शुद्ध होता चला जाता है ॥२॥

निदानं शुद्धचिद्रूपस्वरूपात्मोपलब्धये ॥२१॥

अर्थ – यह व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार का रत्नत्रय शुद्धचिद्रूप के स्वरूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है। बिना दोनों प्रकार के रत्नत्रय को प्राप्त किये कदापि शुद्धचिद्रूप के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

स्वशुद्धचिद्रूपपरोपलब्धिः कस्यापि रत्नत्रयमंतरेण ।
क्वचित्कदाचिन्न च निश्चयो यद् दृढोऽस्ति चित्ते मम सर्वदैव ॥२२॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्त्यै रत्नत्रयप्रतिपादको द्वादशोऽध्यायः ॥ १२॥

अर्थ—इस शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति, बिना रत्नत्रय के आज तक कभी और किसी देश में नहीं हुई। सबको रत्नत्रय की प्राप्ति के अनन्तर ही शुद्धचिद्रूप का लाभ हुआ है। यह मेरी आत्मा में दृढ़रूपसे निश्चय है ॥२२

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति में असाधारण कारण रत्नत्रय है इस बातको बतलानेवाला बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

तेरहवाँ-अध्याय।

विशुद्धं वसनं श्लाघ्यं रत्नं रूप्यं च काञ्चनम् ।
भाजनं भवनं सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा ॥ १ ॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चांदी, सोना, पात्र और भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशंसनीय गिने जाते हैं। उसी प्रकार यह शुद्धचिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशंसनीय है ॥१॥

रागादिलक्षणः पुंसि संक्लेशोऽशुद्धता मता ।
तन्नाशो येन चांशेन तेनांशेन विशुद्धता ॥ २ ॥

अर्थ—पुरुष में राग द्वेष आदि लक्षण का धारक संक्लेश अशुद्धपना कहा जाता है। और जितने अंश में राग द्वेष आदि का नाश हो जाता है, उतने अंश में विशुद्धपना कहा जाता है।

भावार्थ—यदि शुद्धनिश्चय नय से देखा जाय तो यह आत्मा सर्वथा विशुद्ध है। परन्तु राग द्वेष आदि के संबन्ध से अशुद्ध हो जाता है। किन्तु जितने अंश में राग द्वेष आदि नष्ट होते जाते हैं। उतने अंश में यह शुद्ध होता चला जाता है ॥२॥

येनोपायेन संक्लेशश्चिद्रूपाद्याति वेगतः ।
विशुद्धिरेति चिद्रूपे स विधेयो मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जीव मोक्षाभिलाषी हैं— अपनी आत्मा को समस्त कर्मों से रहित करना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि जिस उपाय से यह संक्लेश दूर हो। विशुद्धपना आवे। वह उपाय अवश्य करें ॥ ३ ॥

सत्पूज्यानां स्तुतिनुतियजनं षट्कर्मावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकानां
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्ध्यै ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष उत्तम और पूज्य हैं, उनकी स्तुति नमस्कार और पूजन करना, सामायिक प्रतिक्रमण आदि-छह प्रकार के आवश्यकों का आचरण करना, सम्यक्चारित्र का दृढ़ रूप से धारण करना, उत्तम तप और तीर्थयात्रा करना बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना और क्रोध मान माया आदि कषायों को उत्पन्न न होने देना आदि विशुद्धि के कारण हैं। बिना इन बातोंके आचरण किये विशुद्धि नहीं हो सकती।

भावार्थ—उत्तम मुनि आदि महापुरुषों की विनय आदि करने से, सामायिक आदि आवश्यकों क

आचरण से सम्यक्चारित्र के पालन से, उत्तमतप, तीर्थयात्रा, करने से परिग्रहों के त्याग से और क्रोध आदि कषायों के न उत्पन्न होने देने से, कर्मों का नाश होता है। और कर्मों के नाश मे आत्मा मे विशुद्धपना आता है; इसलिये जो मनुष्य अपने आत्मा की विशुद्धता के अभिलाषी हैं। उन्हें चाहिये कि उपर्युक्त बातों पर अवश्य ध्यान दें। और अपनी आत्मा को शुद्ध बनावें ॥४॥

रागादिविक्रिया दृष्ट्वांगिनां क्षोभादि मा व्रज।
भवे तदितर किं स्यात्, स्वच्छं शिवपद स्मर ॥५॥

अर्थ—हे आत्मन्! मनुष्यों मे रागद्वेष आदि का विकार देख तुझे किसी प्रकार क्षोभ न करना चाहिए; क्योंकि संसार मे सिवाय राग आदि विकार के और होना ही क्या है? इसलिये तू अतिशय विशुद्ध मोक्षमार्ग का ही स्मरण कर।

भावार्थ प्रायः ससार मे यह बात प्रत्यक्षगोचर होती है, कि कहीं राग के सम्बन्ध से नाना प्रकार के विकार देखने मे आते हैं, और कहीं द्वेष और मोह के सम्बन्ध से। परन्तु रागद्वेष आदि का विकार देख किसी प्रकार क्षोभ न करना चाहिये, क्योंकि इसका नाम संसार है। और इसमे रागद्वेष के विकारों के सिवाय उत्तम बात होनी कठिन है; इसलिये हे आत्मन्! यदि तू रागद्वेष आदिक विकारों से रहित होना चाहता है, तो तू मोक्ष-मार्ग का स्मरण कर। उसी से तेरा कल्याण होगा ॥५॥

विपर्यस्तो मोहादहमिह विवेकेन रहित

सरोगो नि:स्वो ना विमतिरगुण: शक्तिविकल: ।

सदादोषी निंद्योऽगुरुविधिरकर्मा हि वचन ।

वदन्नागी सोऽय भवति भुवि वैशुद्ध्यसुखभाग ॥६॥

अर्थ—मैं मोह के कारण विपर्यस्त होकर ही अपने को विवेकहीन, रोगी, निर्धन, मतिहीन, अगुणी, शक्ति-रहित, दोषी, निंदनीय, हीनक्रिया का करनेवाला, अकर्मण्य-आलसी मानता हू । इस प्रकार वचन बोलने वाला विशुद्धता के सुख का अनुभव करता है ।

भावार्थ—मैं वास्तविक दृष्टि से शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप हू । सब पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा और सदा आनन्द रूप हू । किंतु अज्ञानवश मोह के जाल में फसकर मैं विपरीतमा होगया हू । विवेकहीनता, सरोगता, निर्धनता, पागलपन, शक्तिरहितपना, आदि कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं । जो मनुष्य मन ऐसा विचार किया करता है, वह अवश्य विशुद्धताजन्य सुख का अनुभव करता है ॥६॥

राज्ञो ज्ञातेश्च दस्योर्ज्वलनजलरिपोरीतितो मृत्युरोगात् ।

दोषोद्भूतेरकीर्तेः सततमतिभय रैनृगोमंदिरस्य ॥

चिंता तन्नाशशोको भवति च गृहिणां तेन तेषां विशुद्धं—
चिद्रूपध्यानरत्नं श्रुतिजलधिभव प्रायशो दुर्लभं स्यात् ॥७॥

अर्थ—संसारी जीवों को राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, वैरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईति, मृत्यु, रोग, दोष, और अकीर्ति से सदा भय बना रहता है। धन, कुटुम्बी, मनुष्य, गाय और महल-मकान की चिन्तायें लगी रहती हैं। एवं उनके नाश से शोक होता रहता है, इसलिये उन्हें शास्त्ररूपी अगाध समुद्र से उत्पन्न शुद्ध चिद्रूप के ध्यान रत्न की प्राप्ति होना नितान्त दुर्लभ है।

भावार्थ—भयभीत मनुष्य अगाध समुद्र से जिस प्रकार सहसा रत्न प्राप्ति नहीं कर सकता। उसी प्रकार जो मनुष्य राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल आदि से भय करने वाला है। धन धान्य गौ महल आदि की चिन्ता और उसके नाश से शोकाकुल रहता है। वह कदापि शुद्धचिद्रूप का ध्यान नहीं कर सकता ॥७॥

पठने गमने संगे चेतनेऽचेतनेऽपि च।
किंचित्कार्यकृतौ पुंसा चिन्ता हेया विशुद्धये ॥८॥

अर्थ—जो महानुभाव विशुद्धता का आकांक्षी है। अपनी आत्मा को निष्कलंक बनाना चाहता है। उसे चाहिये कि वह पढ़ने, गमन करने, चेतन अचेतन, दोनों प्रकार के परिग्रह के सम्बन्ध में और किसी अन्य कार्य के करने में किसी प्रकार की चिन्ता न करे। अर्थात्-अन्य पदार्थों की चिन्ता करने से आत्मा विशुद्ध नहीं बन सकती ॥८॥

शुद्धचिद्रूपकस्यांशो द्वादशांगश्रुतार्णव: ।
शुद्धचिद्रूपके लब्धे तेन किं मे प्रयोजनम् ॥६॥

अर्थ—आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्धचिद्रूप का अंश है, इसलिये यदि शुद्धचिद्रूप प्राप्त होगया है, तो मुझे द्वादशांग से क्या प्रयोजन ? वह तो प्राप्त हो ही गया ।

भावार्थ—द्वादशांग की प्राप्ति संसार में अतिशय दुर्लभ है । परन्तु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होते ही उसकी प्राप्ति आप से आप होजाती है । क्योंकि वह शुद्धचिद्रूप का अंश है । इसलिये कल्याण के आकांक्षी जीवों को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप की ही प्राप्ति करें । द्वादशांग आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये शुद्धचिद्रूप के लाभ का ही प्रयत्न करें ॥९॥

शुद्धचिद्रूपके लब्धे कर्त्तव्यं किंचिदस्ति न ।
अन्यकार्यकृतौ चिन्ता वृथा मे मोहसंभवा ॥१०॥

अर्थ—मुझे संसार में शुद्धचिद्रूप का लाभ होगया है, इसलिये कोई कार्य मुझे करने के लिये अवशिष्ट न रहा । सबकर चुका । तथा शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जानेपर अन्य कार्यों के लिये मुझे चिन्ता करना भी व्यर्थ है । क्योंकि यह मोह से होती है । अर्थात् मोह से उत्पन्न हुई चिन्ता से मेरा कदापि कल्याण नहीं हो सकता ॥१०॥

वपुषां कर्मणां कर्महेतूनां चिंतन यदा ।
तदा क्लेशो विशुद्धिः स्याच्छुद्धचिद्रूपचिंतनम् ॥११॥

अर्थ—शरीर कर्म और कर्म के कारणों का चिन्तवन करना क्लेश है। अर्थात् उनके चिन्तवन से आत्मा में क्लेश उत्पन्न होता है। और शुद्धचिद्रूप के चिन्तवन से विशुद्धि होती है ॥११॥

गृही यति र्न यो वेत्ति शुद्धचिद्रूपलक्षणम् ।
तस्य पंचनमस्कारप्रमुखस्मरणं वरम् ॥१२॥

अर्थ—जो गृहस्थ वा मुनि शुद्धचिद्रूप का स्वरूप नहीं जानता, उसके लिये पंचपरमेष्ठी के मंत्रों का स्मरण करना ही कार्यकारी है। उसी से उसका कल्याण हो सकता है ॥१२॥

संक्लेशस्य विशुद्धेश्च फलं ज्ञात्वा परीक्षणम् ।
तं त्यजेत्ता भजत्यंगी योऽत्र मुत्र सुखी स हि ॥१३

अर्थ—जो पुरुष संक्लेश और विशुद्धि के फल को परीक्षापूर्वक जानकर, संक्लेश को छोड़ता है और विशुद्धि का सेवन करता है। उस मनुष्य को इसलोक और परलोक दोनों लोकों में सुख मिलता है ॥१३॥

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनाम् ।

विशुद्धौ मोचनं तेषा वधो वा शुभकर्मणाम् ॥१४॥

अर्थ—क्योंकि सक्लेश के होने से अत्यन्त दुखदायी अशुभ कर्मों का आत्मा के साथ सबध होता है। और निशुद्धता की प्राप्ति से इन अशुभ कर्मों का सम्बध छूटता है तथा शुभ कर्मों का सम्बध होता है।

भावार्थ—जबतक यह आत्मा निशुद्ध नहीं होता, सक्लेशमय रहता है। तब तक इसके साथ नाना प्रकार के अशुभ कर्मों का बध होता रहता है। और उससे इसे अनेक प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं। परन्तु जिस समय यह आत्मा निशुद्धता का अनुभव करने लग जाता है। उस समय इससे अशुभ कर्मों का सबध छूट जाता है। और सुखदायक शुभ कर्मों का सबध होने लगता है। इसलिये दुःखदायक सक्लेश को छोडकर सुखदायक चिद्रूप की शुद्धि का ही आश्रय करना योग्य है ॥१४॥

विशुद्धेः शुद्धचिद्रूपसद्ध्यान मुख्यकारणम्।
सक्लेशस्तद्विघाताय जिनेनेदं निरूपितम ॥१५॥

अर्थ – यह निशुद्धि शुद्धचिद्रूप के ध्यान मे मुख्य कारण है। इसीसे शुद्धचिद्रूप के ध्यान की प्राप्ति होती है। और सक्लेश शुद्धचिद्रूप के ध्यान का विघातक है। जबतक आत्मा मे किसी प्रकार का सक्लेश रहता है। तबतक शुद्धचिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता ॥१५॥

अमृत च विशुद्धि स्यान्नान्यल्लोकप्रभाषितम्।

अत्यंतसेवने कष्टमन्यस्यास्य परं सुखम् ॥१६॥

अर्थ—संसार में लोग अमृत जिसको कहकर पुकारते हैं–अथवा जिस किसी पदार्थ को लोग अमृत बतलाते हैं। वह पदार्थ वास्तव मे अमृत नहीं है। वास्तविक अमृत तो विशुद्धि ही है। क्योंकि लोककथित अमृत के अधिक सेवन करने से तो कष्ट भोगना पड़ता है। और विशुद्धिरूपी अमृत के अधिक सेवन करने पर भी अनुपम सुख ही मिलता है। किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं भोगना पड़ता; इसलिये जिससे सब अवस्थाओ मे सुख मिले, वही सच्चा अमृत है ॥१६॥

विशुद्धिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे।
विमुच्यानुपम राज्यं खसुखानि धनानि च ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य विशुद्धता के भक्त हैं। अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं। वे उसकी सिद्धि के लिये पर्वत की गुफाओ में निवास करते हैं। तथा अनुपम राज्य, इन्द्रिय सुख और संपत्ति का सर्वथा त्याग कर देते हैं। राज्य आदि की ओर जरा भी चित्त को भटकने नही देते ॥१७॥

विशुद्धेश्चित्स्वरूपे स्यात् स्थितिस्तस्या विशुद्धता।

तयोरन्योन्यहेतुत्वमनुभूय प्रतीयताम् ॥१८॥

अर्थ—विशुद्धि होने से शुद्धचिद्रूप में स्थिति होती है। और विशुद्धचिद्रूप में निश्चल रूप से स्थिति करने से विशुद्धि होती है; इसलिये इन दोनों को आपस में एक दूसरे का कारण जानकर, इनका वास्तविक स्वरूप जान लेना चाहिये।

भावार्थ—जबतक विशुद्धता नहीं होती, तब तक शुद्धचिद्रूप में स्थिति नहीं हो सकती। और जबतक शुद्ध-चिद्रूप में स्थिति नहीं होती, तबतक विशुद्धता नहीं आसकती; इसलिये विद्वानों को चाहिये, कि इनमें एक दूसरे को आपस में कारण जानकर इन दोनों के स्वरूप को जानने के लिये पूर्ण उद्यम करें ॥१८॥

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः।
परमाचरणं सैव मुक्तेः पन्थाश्च सैव हि ॥१९॥
तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा।
प्रतीक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिन्तनात् ॥२०॥

अर्थ—यह विशुद्धि ही संसार में परम धर्म है। यही जीवों को सुख देनेवाला, उत्तम चारित्र, और मोक्ष का मार्ग है। इसलिये जो मुनिगण विद्वान हैं- जड़ और चेतन के स्वरूप के वास्तविक जानकार हैं। उन्हें चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप के चिन्तवन से प्रयत्नपूर्वक विशुद्धि की प्राप्ति करें।

भावार्थ— बिना शुद्धचिद्रूप के चिन्तवन के विशुद्धि की प्राप्ति होना असभव है, इसलिये विद्वान मुनिगणों को इसकी प्राप्ति के लिये शुद्धचिद्रूप का चिन्तवन करना चाहिये। क्योंकि यह विशुद्धि ही संसार में परम धर्म, सुख के देनेवाली, उत्तम चारित्र और मोक्ष का मार्ग है ॥१९॥२०॥

यावद्बाह्याभ्यन्तरान् संगान् न मुञ्चति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥२१॥

अर्थ—जबतक मुनिगण बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर देते। तबतक उनके चिद्रूप में विशुद्धपना नहीं आसकता।

भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि को अपनाना बाह्य परिग्रह है और रागद्वेष आदि को अपनाना आभ्यन्तर परिग्रह है। जबतक इन दोनों प्रकार के परिग्रहों में ममता लगी रहती है। तबतक चिद्रूप विशुद्ध नहीं होसकता। परन्तु ज्यों २ बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से ममता छूट जाती है, त्यों २ चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है; इसलिये जो मुनिगण विशुद्ध चिद्रूप के अभिलाषी है, उन्हे चाहिये कि वे बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा ममता छोड दें ॥२१॥

विशुद्धिनावमेवात्र श्रयतु भवसागरे ।

मज्जतो निखिला भव्या बहुना भाषितेन किम् ॥२२॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि इस विषय में विशेष कहने से क्या प्रयोजन ? प्रिय भव्यो ! अनादि काल से आप लोग इस संसार रूपी सागर में गोता खारहे हैं। अब आप इस विशुद्धि रूपी नौका का आश्रय लेकर संसार से पार होने के लिये पूर्ण उद्यम कीजिये ॥२२॥

आदेशोऽयं सद्गुरूणां रहस्यं सिद्धान्तानामेतदेवाखिलानाम् ।
कर्त्तव्यानां मुख्यकर्त्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धिः ॥२३॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै विशुद्ध्यानयनविधिप्रतिपादकत्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

अर्थ – अपने चित्स्वरूप में विशुद्धि प्राप्त करना यही उत्तम गुरुओं का उपदेश है। समस्त सिद्धांतों का रहस्य और समस्त कर्त्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य है।

भावार्थ – चिद्रूप को बिना विशुद्ध किये किसी प्रकार का कल्याण नहीं हो सकता; इसलिये यही उत्तम गुरुओं का उपदेश, समस्त सिद्धांतों का रहस्य और कर्त्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य है कि चिद्रूप में विशुद्धि प्राप्त करो ॥ २३ ॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये विशुद्धि की प्राप्ति का उपाय प्रतिपादन करनेवाला तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

चौदहवाँ-अध्याय ।

नीहाराहारपान खमदनविजयं स्वापमौनासन च,
यानं शील तपांसि व्रतमपि कलयन्नागम संयम च ।
दान गान जिनानां नुतिनतिजपन मंदिर चाभिषेकं,
यात्रार्चे मूर्त्तिमेव कलयति सुमतिः शुद्धचिद्रूपकोऽहम् ॥१॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष जिस प्रकार नीहार (मलमूत्र का त्याग करना) खाना, पीना, इन्द्रिय और काम का विजय सोना, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत, आगम, संयम, दान, गान, भगवान की स्तुति, प्रणाम, जप, मंदिर, अभिषेक, तीर्थयात्रा पूजन, और प्रतिमाओं के निर्माण आदि करने को आवश्यक कार्य समझते हैं, उसी प्रकार 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा समझने को भी आवश्यक कार्य मानते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुषों को मलमूत्रत्याग खाना पीना इन्द्रिय और काम का विजय, मौन, आसन, गमन, शील, तप व्रत आदि कार्य करने पड़ते हैं। बिना इनके किये उनका काम नहीं चल सकता। उसी प्रकार 'मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं' इस प्रकार ध्यान के बिना भी उनका कार्य नहीं चल सकता; इसलिये उन्हें

शुद्धचिद्रूप का भी अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥ १ ॥

कुर्वन् यात्रार्चनाद्य स्वजयजपतपोऽध्यापन साधुसेवा–
दानौघान्योपकार यमनियमधरं स्वापशील दधान ॥
उद्भीभाव च मौन व्रतसमितितर्तिं पालयन् सयमौघ
चिद्रूपध्यानरक्तो भवति च शिवभाग् नापर स्वर्गभाक् च ॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य तीर्थयात्रा, भगवान की पूजन, इन्द्रियों का जय, जप, तप, अध्यापन (पढ़ाना) साधुओं की सेवा, दान, अन्य का उपकार, यम, नियम, शील, भय का अभाव, मौन, व्रत और समिति का पालन एव सयम का आचरण करता हुआ शुद्धचिद्रूप के ध्यान में रक्त है। उसे तो मोक्ष की प्राप्ति होती है। और उससे अन्य, अर्थात् जो शुद्धचिद्रूप का ध्यान न कर तीर्थयात्रा आदि का ही करनेवाला है। उसे नियम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—तीर्थयात्रा, भगवान की पूजन, इन्द्रियों का जय, जप, तप, अध्यापन साधुओं की सेवा आदि कार्य सर्वदा शुभ हैं। यदि इनके साथ शुद्धचिद्रूप के ध्यान में अनुराग किया जाय, तो मोक्ष की प्राप्ति होती है। और शुद्धचिद्रूप का ध्यान न कर केवल तीर्थयात्रा आदि का ही आचरण किया जाय, तब स्वर्गसुख मिलता है,

इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे मोक्षसुख की प्राप्ति के लिये शुद्धचिद्रूप के ध्यान के साथ तीर्थयात्रा आदि अवश्य आचरण करें। यदि वे शुद्धचिद्रूप का ध्यान न भी कर सकें तो तीर्थयात्रा भगवान की पूजन आदि कार्य तो अवश्य करने चाहिये। क्योंकि इनके आचरण करने से भी स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है ॥२॥

चित्तं निधाय चिद्रूपे कुर्याद् वागंगचेष्टितम् ।
सुधीर्निरन्तर कुंभे यथा पानीयहारिणी ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य विद्वान हैं। संसार के तापसे रहित होना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि वे घड़े में पनिहारी के समान शुद्धचिद्रूप में अपना चित्तस्थिर कर वचन और शरीर की चेष्टा करें।

भावार्थ—जिस प्रकार पनिहारी जलसे भरे हुए घड़े में अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीर की चेष्टा करती है। उसी प्रकार जो मनुष्य संसार के संताप से खिन्न हैं, और उससे रहित होना चाहते हैं; उन्हें भी चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप में अपना मन स्थिर कर उसकी प्राप्ति के लिये वचन और शरीर का व्यापार करें। क्योंकि शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति से समस्त संताप का नाश होता है और शांतिमय सुख मिलता है ॥३॥

वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य संगं हित्वा द्विधा ततः ।
तत्त्वविद्गुरुमाश्रित्य ततः स्वीकृत्य संयमम् ॥४॥

अधीत्य सर्वशास्त्राणि निर्जने निरुपद्रवे ।
स्थाने स्थित्वा विमुच्यान्यचिंतां धृत्वा शुभासनम् ॥५॥
पदस्थादिकमभ्यस्य कृत्वा साम्यावलंबनम्
मानसं निश्चलीकृत्य स्वं चिद्रूपं स्मरन्ति ये ॥६॥ त्रिकलं ॥
पापानि प्रलयं यांति तेषामभ्युदयप्रदः ।
धर्मो विवर्द्धते मुक्तिप्रदो धर्मश्च जायते ॥७॥

अर्थ—जो महानुभाव मनसे वचनसे और कायसे वैराग्य को प्राप्त होकर बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर तत्त्ववेत्ता गुरु का आश्रय लेकर और संयम को स्वीकार कर समस्त शास्त्रों के अध्ययनपूर्वक निर्जन निरुपद्रव स्थान में रहते हैं और वहां समस्त प्रकार की चिंताओं का परित्याग, शुभ आसन का धारण, पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यानों का अवलंबन, समता का आश्रय, और मन का निश्चलपना धारण कर शुद्धचिद्रूप का स्मरण ध्यान करते हैं। उनके समस्त पाप जड़ से नष्ट होजाते हैं। नाना प्रकार के कल्याणों को करने वाले धर्म की वृद्धि होती है और उससे उन्हें मोक्ष मिलती है।

भावार्थ— चिद्रूप का स्मरण करना संसार में अतिशय कठिन है। क्योंकि जो मनुष्य मन वचन और काय

से वैरागी स्त्री पुत्र आदि मे ममत्व न रखनेवाला; वाह्य आभ्यन्तर दोनो प्रकार के परिग्रहों का त्यागी, तत्त्वों के जानकार गुरुओं का उपासक, परम सयमी समस्त शास्त्रो का वेत्ता, निर्जन और निरुपद्रव वनों म निवास करने वाला, सब प्रकार की चिंताओं से रहित, शुभ आसन, पदस्थ आदि ध्यान और समता का अवलंबी होगा, एवं जिसका मन वाह्य पदार्थों मे चचल न होकर निश्चल होगा, वही शुद्धचिद्रूप का स्मरण कर सकेगा। तथा ऐसे शुद्धचिद्रूप के स्मरण करनेवाले पुरुष के ही समस्त पापों का नाश, सर्वोत्तम धर्म की वृद्धि और मोक्ष का लाभ होगा, इसलिये सुख के अभिलाषी जीवों को चाहिये कि वे उपर्युक्त बातों के साधन मिलाकर शुद्धचिद्रूप के स्मरण का अवश्य प्रयत्न करें ॥४-७॥

वार्वाताग्न्यमृतोपवज्रगरुडज्ञानौषधेभारिणा
सूर्येण प्रियभाषितेन च यथा यांति क्षणेन क्षयम्।
अग्न्यब्दागविषं मलागफणिनोऽज्ञानं गदेभव्रजाः
रात्रि वैरमिहावनावघचयाश्चिद्रूपसंचिंतया ॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार जल अग्नि का क्षय करता है। पवन मेघ का, अग्नि वृक्षका, अमृत विषका, खार मैल का, वज्र पर्वतका, गरुड सर्पका, ज्ञान अज्ञानका, औषध रोगका, सिंह हाथियों का, सूर्य रात्रिका, और प्रिय

अप्रिय वैरका नाश करता है। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के चिंतवन करने से समस्त पापों का नाश होता है।

भावार्थ— जिन जिन का आपस में विरोध होता है। उनमें बलवान विरोधी दूसरे निर्बल विरोधी का अवश्य नाश करता है। जल अग्नि पवन मेघ, अग्नि वृक्ष, अमृत विष, क्षार मैल, वज्र पर्वत, गरुड सर्प, ज्ञान अज्ञान, औषध रोग, सिंह हाथी, सूर्य रात्रि, प्रिय अप्रिय वैर का आपस में विरोध है। बलवान जल आदि, अग्नि आदि को नष्ट कर देते हैं। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप और पापों का आपस में विरोध है, इसलिये शुद्धचिद्रूप के सामने पाप जरा भी नहीं टिक सकते ॥८॥

वर्द्धन्ते च यथा मेघात्पूर्वं जाता महीरुहाः ।
तथा चिद्रूपसद्ध्यानात् धर्मश्चाभ्युदयप्रदः ॥९॥

अर्थ—जिस प्रकार पहिले के ऊगे हुए वृक्ष मेघ के जल से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के ध्यान से धर्म भी वृद्धि को प्राप्त होता है। और नाना प्रकार के कल्याणों को प्रदान करता है।

भावार्थ-- धर्म आत्मा का स्वभाव है। सिवाय आत्मा के वह कभी किसी काल में दूसरे पदार्थों में नहीं रह सकता। किन्तु कर्मों के प्रबल पर्दे के पड जाने से उसका स्वरूप कुछ ढक जाता है। धर्माचरण करने में मनुष्यों के परिणाम नहीं लगते। परन्तु जिस प्रकार जमीन में पहिले से ही ऊगे हुए वृक्ष मेघ की सहायता से वृद्धि को प्राप्त होजाते हैं। और नाना प्रकार के फलों को प्रदान करते हैं। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप के ध्यान के

द्वारा कर्मों के नष्ट होजाने से धर्म भी वृद्धि को प्राप्त हो जाता है । और उससे जीवों को अनेक प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

यथा वलाहकवृष्टे जायंते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार मेघ से भूमि के अंदर हरे हरे अंकुर उत्पन्न होते हैं । उसीप्रकार शुद्धचिद्रूप के चिंतवन करने से मुक्ति प्रदान करने वाला धर्म भी उत्पन्न होता है । अर्थात् शुद्धचिद्रूप के ध्यान से अनुपम धर्म की प्राप्ति होती है । और उसकी सहायता से जीव मोक्ष सुख का अनुभव करते हैं ॥१०॥

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने, निवासमंतर्बहिःसंगमोचनम् ।
मौनं क्षमातापनयोगधारणं चिच्चिन्तयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥११॥

अर्थ—जो विद्वान पुरुष शुद्धचिद्रूप के चिन्तवन के साथ व्रतों का आचरण करता है । शास्त्रों का स्वाध्याय तप का आराधन, निर्जन वन में निवास, बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है । उसे ही मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—चाहे कितना भी व्रतों का आचरण, शास्त्रों का स्वाध्याय, तप का आराधन, निर्जन वनमें निवास,

बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग का धारण करो। जबतक उनके साथ शुद्धचिद्रूप का चिन्तवन न किया जायगा, तबतक उनसे कभी मोक्षसुख प्राप्त न होगा, इसलिये मोक्षाभिलाषियों को चाहिये कि वे व्रत आदि के आचरण के साथ अवश्य शुद्धचिद्रूप का चिंतवन करें॥११॥

शुद्धचिद्रूपके रक्तः शरीरादिपराङ्मुखः ।
राज्यं कुर्वन्न बध्येत कर्मणा भरतो यथा ॥१२॥

अर्थ—जो पुरुष शरीर स्त्री पुत्र आदि से ममत्व छोड़कर शुद्धचिद्रूप मे अनुराग करने वाला है, वह राज्य करता हुआ भी कर्मों से नहीं बधता। जैसे कि चक्रवर्ती राजा भरत।

भावार्थ—भगवान ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती राजा भरत छहखंड की पृथ्वी के शासक थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके सेवक,छयानबे हजार आज्ञाकारिणी रानियां और हाथी घोड़े आदि लाखों करोड़ों थे। तथापि उनका सिवाय शुद्धचिद्रूप के जरा भी किसी मे अनुराग न था। वे सदा सबसे पराङ्मुख रहते थे। इस लिये जिस समय वे परिग्रह से सर्वथा ममत्वरहित हो तपोवन गये, उस समय कपड़े खोलते ही उन्हें केवलज्ञान होगया। और समस्त कर्मों का नाश कर वे मोक्ष मे जा विराजे। उसी प्रकार भरत चक्रवर्ती के समान जो मनुष्य शरीर आदि से ममत्व न कर शुद्धचिद्रूप मे प्रेम करता है, वह राज्य का भोग करता हुआ भी कर्मों से नहीं

वधता और मोक्षसुख का अनुभव करता है ॥१२॥

स्मरन् स्वशुद्धचिद्रूपं कुर्यात्कार्यशतान्यपि ।
तथापि न हि वध्येत धीमानशुभकर्मणा ॥१३॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूप का स्मरण करता हुआ बुद्धिमान पुरुष यदि सैकड़ों भी अन्य अन्य कार्य करे। तथापि उसकी आत्मा के साथ किसी प्रकार के अशुभ कर्म का बंध नहीं होता।

भावार्थ—बंध के होने में कारण ममत्व है। सैकड़ों कार्य करने पर भी यदि परपदार्थों में किसी प्रकार की ममता नहीं हो, तो कदापि बंध नहीं हो सकता ॥१३॥

रोगेण पीड़ितो देही यष्टिमुष्ट्यादिताडितः ।
बद्धो रज्ज्वादिभि दुःखी न चिद्रूपं निजं स्मरन् ॥१४॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप का स्मरण करनेवाला है। चाहे वह कैसे भी रोग पीड़ित क्यों न हो। लाठी मुक्कों से ताड़ित और रस्सी आदि से भी क्यों न बंधा हुआ हो। उसे जरा भी क्लेश नहीं होता। अर्थात् वह यह जानकर कि "ये सारी व्याधिया शरीर मे होती हैं, मेरे शुद्धचिद्रूप मे नहीं और शरीर मुझ से सर्वथा भिन्न है" रंच मात्र भी दुःख का अनुभव नही करता ॥१०॥

क्षुधया च शीतेन वातेन च पिपासया ।
आतपेन भवेन्नार्तो निजचिद्रूपचिंतनात् ॥१५॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूप के चिंतवन से मनुष्य को भूख, ठंड, पवन, प्यास और आताप की भी बाधा नहीं होती । भूख आदि की बाधा होने पर भी वह आनन्द ही मानता है ॥१५॥

हर्षो न जायते स्तुत्या विषादो न स्वनिंदया ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपमन्वहं स्मरतोऽगिनः ॥१६॥

अर्थ—जो प्रतिदिन शुद्धचिद्रूप का स्मरण ध्यान करता है । उसे दूसरे मनुष्यों से अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नहीं होता और निंदा सुनकर किसी प्रकार का विषाद नहीं होता । निंदा स्तुति दोनों दशा में वह मध्यस्थ रूपसे रहता है ॥१६॥

रागद्वेषौ न जायेते परद्रव्ये गतागते ।
शुभाशुभेऽगिनः शुद्धचिद्रूपासक्तचेतसः ॥१७॥

अर्थ—जिस मनुष्य का चित्त शुद्धचिद्रूप में आसक्त है । वह स्त्री पुत्र आदि परद्रव्य के चले जाने पर द्वेष नहीं करता । और उनकी प्राप्ति में अनुरक्त नहीं होता । तथा अच्छी बुरी बातों के प्राप्त हो जाने पर भी उसे

किसी प्रकार का रागद्वेष नहीं होता ॥१७॥

न संपदि प्रमोदः स्यात् शोको नापदि धीमताम् ।
आहोस्वित्सर्वदात्मीयशुद्धचिद्रूपचेतसाम् ॥१८॥

अर्थ—सदा शुद्धचिद्रूप में मन लगानेवाले बुद्धिमान पुरुषों को सम्पत्ति के प्राप्त होजाने पर हर्ष और विपत्ति के आने पर विषाद नहीं होता। वे सम्पत्ति और विपत्ति को समान रूप से मानते हैं ॥१८॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं ये न मुञ्चन्ति सर्वदा ।
गच्छन्तोऽप्यन्यलोकं ते सम्यगभ्यासतो न हि ॥१९॥

तथा कुरु सदाभ्यासं शुद्धचिद्रूपचिन्तने ।
संक्लेशे मरणे चापि तद्विनाशं यथैति न ॥२०॥

अर्थ—जो महानुभाव आत्मिक शुद्धचिद्रूप का कभी त्याग नहीं करते, वे यदि अन्य भव में भी चले जाय, तो भी उनके शुद्धचिद्रूप का अभ्यास नहीं छूटता। पहिले भव में जैसी उनकी शुद्धचिद्रूप में लीनता रहती है। वैसी ही बनी रहती है। इसलिये हे आत्मन्! तू शुद्धचिद्रूप के ध्यान का इस रूपसे सदा अभ्यास कर, जिससे कि

भयंकर दुःख और मरण के प्राप्त होजाने पर भी उसका विनाश न हो। वह ज्यों का त्यों बना रहे ॥१९॥२०॥

वदन्नन्ये हसन् गच्छन् पाठयन्नागमं पठन् ।
आसनं शयनं कुर्वन् शोचनं रोदनं भयम् ॥२१॥
भोजनं क्रोधलोभादि कुर्वन् कर्मवशात् सुधीः ।
न मुञ्चति क्षणार्द्धं स शुद्धचिद्रूपचिन्तनम् ॥२२॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूप स्मरणं यत्कार्यं करोतीति प्रतिपादकश्चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अर्थ--जो पुरुष बुद्धिमान हैं। यथार्थ मे शुद्धचिद्रूप के स्वरूप के जानकार हैं। वे कर्मों के फंदे मे फसकर बोलते, हंसते, चलते, आगम को पढाते, पढते, बैठते, सोते, शोक करते, रोते, डरते, खाते, पीते, और क्रोध लोभ आदि को भी करते हुए क्षणभर के लिए भी शुद्धचिद्रूप के स्वरूप से विचलित नही होते। प्रतिक्षण वे शुद्ध-चिद्रूप का ही चिन्तवन करते रहते हैं ॥२१-२२॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक श्रीज्ञानभूषण निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप का ध्यान करता हुआ भी यह जीव अन्य कार्य करता रहता है इस बात को बतलाने वाला चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ-अध्याय ।

गृहं राज्यं मित्रं जनकजननी भ्रातृपुत्र कलत्रं-
सुवर्णं रत्नं वा पुरजनपदं वाहनं भूषणं वै ॥
खसौख्यं क्रोधाद्य वसनमशनं चित्तवाक्कायकर्म
त्रिधा मुञ्चेत्प्राज्ञः शुभमपि निजं शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै ॥१॥

अर्थ—बुद्धिमान मनुष्यों को शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये शुभ होने पर भी अपने घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुवर्ण, रत्न, पुर, जनपद, सवारी, भूषण, इंद्रियजन्य सुख, क्रोध, वस्त्र और भोजन आदिक मन वचन काय से सर्वथा त्याग देना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि संसार मे घर, राज्य, मित्र, माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुवर्ण, रत्न, पुर, नगर, सवारी, इंद्रियजन्य सुख आदि से भी काम चलता है और शुभ भी हैं। परन्तु शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति मे बाधक हैं। जब तक इनकी ओर ध्यान रहता है, तबतक कदापि शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नही हो सकती, इसलिये विद्वानो को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये घर राज्य आदि का सर्वथा त्याग कर दें ॥१॥

सुतादौ भार्यादौ वपुषि सदने पुस्तकधने,
पुरादौ मन्त्रादौ यशसि पठने राज्यकदने ।
गवादौ भक्तादौ सुहृदि दिवि वाहे खविषये,
कुधर्मे वांछास्यात् सुरतरुमुखे मोहवशतः ॥२॥

अर्थ—इस दीनजीव की मोह के वशसे पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता, शरीर, घर, पुस्तक, धन, पुर, नगर, मन्त्र, कीर्ति, ग्रन्थों का अभ्यास, राज्य, युद्ध गौ, हाथी, भोजन, मित्र, स्वर्ग, सवारी, इन्द्रियों के विषय, कुधर्म और कल्पवृक्ष आदि में वांछा होती है।

भावार्थ—जबतक इस जीव के मोह का उदय रहता है, तबतक यह पुत्र पुत्री स्त्री शरीर आदि पर पदार्थों को अपनाता रहता है। और उनके फंद में फँसकर आत्मिक शुद्धचिद्रूप को सर्वथा भुला देता है। परन्तु मोह के नाश होते ही इसे अपने पराये का ज्ञान हो जाता है; इसलिये उस समय पुत्र धन आदि पदार्थों की ओर यह भाक कर भी नहीं देखता ॥२॥

किं पर्यायैर्विभावैस्तव हि चिदचितां व्यंजनार्थाभिधानै–
रागद्वेषाप्तिबीजे जगति परिचितैः कारणैः संसृतेश्च ।

मत्वैव त्वं चिदात्मन् परिहर सततं चिंतनं मड्क्षु तेषां—
शुद्धे द्रव्ये चिति स्वे स्थितिमचलतयांतर्दृशा संविधेहि ॥३॥

अर्थ—हे चिदात्मन् ! संसार मे चेतन और अचेतन की जो अर्थ और व्यंजन पर्यायें मालूम पड रही है। वे सब स्वभाव नहीं। विभाव है। निंदित है। राग द्वेष आदि की और संसार की कारण हे। ऐसा भले प्रकार निश्चय कर तू इनका विचार करना छोड़ दे। और आत्मिक शुद्ध चिद्रूप को अपनी अंतर्दृष्टि से भले प्रकार पहिचान कर उसीमे निश्चल रूप से स्थिति कर।

भावार्थ—यदि कोई अपना है, तो शुद्धचिद्रूप ही है। शुद्धचिद्रूप से भिन्न कोई पदार्थ अपना नहीं। रागद्वेष मतिज्ञान और नरनारक आदि पर्यायों को अपनी मानना भूल है। क्योकि ये विभाव पर्याय है, स्वभाव नही। महानिंदित हैं। इनको अपनाने से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। और संसार मे भ्रमण करना पडता है, इसलिये जो जीव निराकुलता मय सुख के अभिलाषी हैं। उन्हें चाहिये कि वे शरीर आदि पर्यायो का चिन्तवन करना छोड दें। और आत्मिक शुद्धचिद्रूप मे प्रेम करें ॥३॥

स्वर्णै रत्नैं गृहैः स्त्रीसुतरथशिविकाश्वेभभृत्यैरसंख्यै-
र्भूपावस्त्रैः स्रगाद्यै र्जनपदनगरैश्चामरैः सिंहपीठैः।

छत्रैरस्त्रैर्विचित्रे र्वरतरशयनै र्भाजने र्भोजनैश्च
लब्धैः पाण्डित्यमुख्यै र्न भवति पुरुषो व्याकुलस्तीव्रमोहात् ॥४॥

अर्थ—यह पुरुष मोह की तीव्रता से आकुलता के कारणस्वरूप-सुवर्ण, रत्न, घर, स्त्री, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, भृत्य, भूषण, वस्त्र, माला, देश, नगर, चमर, सिंहासन, छत्र, अस्त्र, शयन, भोजन, और विद्वत्ता आदि से व्याकुल नहीं होता।

भावार्थ—जहां चित्तको आकुलता नहीं रहती, वहीं शांति मिलती है। सुवर्ण रत्न घर स्त्री आदि पदार्थों की प्राप्ति अप्राप्ति मे चित्त सदा व्याकुल बना रहता है, इसलिये उनको अपनाने से आत्मा निराकुल नहीं होसकता। परंतु यह जीव मोह की तीव्रता से ऐसा मूढ होरहा है, कि सुवर्ण स्त्री पुत्र आदि पदार्थों के अपनाने से अनंत कष्ट भोगने पर भी यह जरा भी कष्ट नहीं मानता। उनसे रत्तीभर भी इसका चित्त व्याकुल नहीं होता ॥४॥

रैगोभार्या- सुताश्वा गृहवसनरथाः क्षेत्रदासीभशिष्याः-
कर्पूराभूषणाद्यापणवनशिबिका बंधुमित्रायुधान्याः।
मंचा वाप्यादिभृत्यातपहरणस्रगाः सूर्यपात्रासनाद्याः,

दुःखानां हेतवोऽमी कलयति विमति सौख्यहेतून् किलैतान्॥५॥

अर्थ—देखो ! इस बुद्धिशून्य जीव की समझदारी ! जो धन, गाय, स्त्री, पुत्री अश्व, घर, वस्त्र, रथ क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य, कपूर, आभूषण, दुकान, वन, पालकी, बंधु, मित्र, आयुध, मञ्च (पलग) बावडी, भृत्य, छत्र, पक्षी, सूर्य, भाजन और आसन आदि पदार्थ, दुःख के कारण हैं। जिन्हें अपनाने से जरा भी सुख नहीं मिलता। उन्हें यह सुखके कारण मानता है। अपने मान रातदिन उनको प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता रहताहै॥५॥

हंस ! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यह यथा।

तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा ॥६॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिस प्रकार प्रतिदिन तू परद्रव्यो का स्मरण करता है। स्त्री पुत्र आदि को अपना मान उन्हीं की चिंता मे मग्न रहता है। उसी प्रकार यदि तू शुद्धचिद्रूप का भी स्मरण करे। उसी के ध्यान और चिन्तवन मे अपना समय व्यतीत करे, तो क्या तेरे लिये मोक्ष समीप न रह जाय। अर्थात् तू बहुत शीघ्रही मोक्षसुख का अनुभव करने लग जाय ॥६॥

लोकस्य चात्मनो यत्नं रंजनाय करोति यत्।

तच्चेन्निराकुलत्वाय नहिं दूरे न तत्पदम् ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार यह जीव अपने और लोक के रजायमान करने के लिये प्रतिदिन उपाय करता रहता है उसी प्रकार यदि निराकुलतामय मोक्षसुख की प्राप्ति के लिये उपाय करे तो वह मोक्षस्थान जराभी उसके लिये दूर न रहे—बहुत जल्दी प्राप्त होजाय ॥७॥

रजने परिणामः स्यात् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावे स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखम् ॥८॥

अर्थ—अपने और परके रजायमान करने वाले चिदात्मा में जो जीव का परिणाम लगता है, वह तो विभाव परिणाम गिना जाता है। और निराकुल शुद्धचिद्रूप में जो लगता है, वह स्वभाव परिणाम कहा जाता है। तथा इस परिणाम से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। उसके विना कदापि सच्चा सुख नहीं मिल सकता ।८॥

संयोगविप्रयोगौ च रागद्वेषौ सुखासुखे ।
तद्भवेऽत्रभवे नित्यं दृश्येते तद्भवं त्यज ॥९॥

अर्थ—क्या तो यह भव और क्या परभव ? दोनों भवों में जीव को संयोग वियोग राग द्वेष और सुख दुख का सामना करना पड़ता है, इसलिये हे आत्मन् ! तू इस संसार का त्याग करदे ।

भावार्थ—इष्ट स्त्री पुत्र आदि से मिलाप होना संयोग है, और उनसे जुदाई का नाम वियोग है। परपदार्थों में प्रेम करना राग और वैर रखना द्वेष है। इष्ट पदार्थों के संबंध से आत्मा में कुछ शांति होना सुख और अशांति का होना दुःख है। ये सब बातें इस भव परभव दोनों भवों में प्रत्यक्ष देखने में आती हैं। और इनके संबंध से सदा परिणामों में विकलता बनी रहती है; इसलिये हे आत्मन्! यदि तू निराकुलता मय सुख का अनुभव करना चाहता है, तो तू उसके मूल कारण संसार का ही सर्वथा त्याग कर दे। मोक्ष स्थान को अपना घर बना ॥९॥

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिम् ॥१०॥

अर्थ–शास्त्र सद्गुरु और साधर्मी भाइयों से अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहचान कर उसी (आत्मा) का अवलंबन कर। उसी के स्वरूप का मनन ध्यान और चिंतवन कर पर पदार्थों का संसर्ग करना छोड़ दे। उन्हें अपना मत मान ॥१०॥

अवश्यं च परद्रव्यं नश्यत्येव न संशयः।
तद्विनाशे विधातव्यो न शोको धीमता क्वचित् ॥११॥

अर्थ—जो पर द्रव्य है, उसका नाश अवश्य होता है। कोई भी उसके नाश को नहीं रोक सकता; इसलिये

जो पुरुष बुद्धिमान हैं। स्वद्रव्य और परद्रव्य के स्वरूप के भले प्रकार जानकार हैं। उन्हें चाहिये कि वे उनके नाश होने पर कभी किसी प्रकार का शोक न करें ॥११॥

त्यक्त्वा मा चिदचित्सगा यास्यत्येव न सगय ।
तानहं वा च यस्यामि तर्प्रातिरिति मे वृथा ॥१२॥

अर्थ— ये चेतन अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह अवश्य मुझे छोड़ देंगे और मैं भी सदा काल इनका संग नहीं दे सकता। मुझे भी ये अवश्य छोड़ देने पड़ेंगे, इसलिये मेरा इनके साथ प्रेम करना व्यर्थ है।

भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि चेतन, सुवर्ण रत्न आदि अचेतन परिग्रह, सदा काल मेरे साथ रहें, वा मैं सदा काल इनके साथ रहा आऊ, तब तो इनके साथ मेरा प्रेम करना ठीक है। परन्तु मेरा तो इनके साथ जितने दिनों का सम्बंध है, उतने ही दिनों का है। अवधि के पूर्ण हो जाने पर, न मैं अधिक काल तक इनके साथ रह सकता हूं, और न ये ही मेरे साथ रह सकते हैं; इसलिए मेरा इन्हें अपनाना इनके साथ प्रेम करना निष्प्रयोजन है ॥१२॥

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत्।
तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलम्बिनः ॥१३॥

अर्थ- मैं अब तत्वावलंबी हो चुका हूं। अपना और पराया मुझे पूर्ण ज्ञान होगया है; इसलिए शास्त्रों से उत्पन्न हुआ परद्रव्यों का ज्ञान भी जब मेरे लिए हेय-त्यागने योग्य है। तब उन पर द्रव्यों के ग्रहण का तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि आत्म स्वरूप के जानने के लिये शास्त्र वा गुरु आदिक के उपदेश से पर द्रव्य के स्वरूप का ज्ञान करना पड़ता है। परन्तु जिसकी दृष्टि सर्वथा शुद्धचिद्रूप की ओर झुक गई है। तत्त्वावलंबी हो गया है। उसके लिये जब पर द्रव्य का ज्ञान भी हेय (त्यागने योग्य) है। क्योंकि वह शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति में बाधक है। तब उसे पर द्रव्यों का तो सर्वथा त्याग कर देना ही चाहिये। क्योंकि वे शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति में बलवान बाधक हैं। पर द्रव्यों के अपनाने से तो शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती ॥१३॥

स्वर्णै रत्नैः कलत्रैः सुतगृहवसनै र्भूषणैराज्यखाद्यै-
गौहस्त्यश्वैश्च पद्मैरथवरशिविकामित्रमिष्टान्नपानैः।
चिंतारत्नै र्निधानैः सुरतरुनिवहैः कामधेन्वा हि शुद्ध-
चिद्रूपाप्तिं विनांगी न भवति कृतकृत्यः कदाचनापि कोपि ॥१४॥

अर्थ—कोई भी प्राणी क्यों न हो, जबतक उसे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती, तब तक चाहे उसके पास

सुवर्ण, रत्न, स्त्री, पुत्र, घर, वस्त्र, भूषण, राज्य, इन्द्रियों के उत्तमोत्तम भोग, गाय, हाथी, अश्व, पदाति, रथ, पालकी, मित्र, महामिष्ट अन्नपान, चिन्तामणिरत्न, खजाने, कल्पवृक्ष, और कामधेनु आदि अगणित पदार्थ क्यों न मौजूद हों, उनसे वह कहीं किसी काल में भी कृतकृत्य नहीं हो सकता।

भावार्थ—सुवर्ण रत्न हाथी घोड़े आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं। सदाकाल विद्यमान नहीं रह सकते। और पर हैं। परन्तु शुद्धचिद्रूप शाश्वत है। कभी इसका नाश नहीं हो सकता। और निज है, इसलिए स्वर्ण आदि पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य कृतकृत्य नहीं हो सकता। संसार में उसे बहुत से कार्य करने के लिये बाकी रह जाते हैं। किन्तु जिस समय शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति हो जाती है, उस समय कोई काम करने के लिये बाकी नहीं रहता। शुद्धचिद्रूप का स्वामी जीव सदा काल निराकुलतामय शाश्वत सुख का अनुभव करता रहता है॥१४॥

परद्रव्यासनाभ्यास, कुर्वन योगी निरन्तरम्।
कर्मांगादिपरद्रव्यं, मुक्त्वा क्षिप्रं शिवीभवेत्॥१५॥

अर्थ—निरंतर पर द्रव्यों के त्याग का चिन्तवन करनेवाला योगी शीघ्र ही कर्म और शरीर आदि पर द्रव्यों से रहित हो जाता है, और परमात्मा बन, मोक्ष सुख का अनुभव करने लगता है॥१५॥

कारणं कर्मबन्धस्य परद्रव्यस्य चिन्तनम्।

स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलम् ॥१६॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि परद्रव्यो के चिन्तवन से केवल कर्मबंध होता है, और स्वद्रव्य—विशुद्ध चिद्रूप के चिंतवन करने से केवल मोक्ष सुख ही प्राप्त होता है। संसार मे भटकना नहीं पड़ता ॥१६॥

प्रादुर्भवंति निःशेषा, गुणाः स्वाभाविकाश्रितः।
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे, परद्रव्यवियोजनात् ॥१७॥

अर्थ—समस्त परद्रव्यों के सर्वथा त्याग से-उन्हें न अपनाने से-आत्मा के स्वाभाविक गुण केवलज्ञान आदि प्रकट होते हैं। और दोषों का नाश होता है ॥१७॥

समस्तकर्मदेहादिपरद्रव्यविमोचनात्।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिर्या, सा मुक्तिरिति कथ्यते ॥१८॥

अर्थ—कर्म और शरीर आदि परद्रव्यों के सर्वथा त्याग से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है। और उसे ही यतिगण मोक्ष कहकर पुकारते हैं।

भावार्थ—समस्त कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष बतलाया है। और यही शुद्धचिद्रूप है। क्योकि शुद्धचिद्रूप

की प्राप्ति समस्त कर्मों के नाश से होती है, इसलिये विशुद्धचिद्रूप और मोक्ष के नाम में भेद होने पर भी अर्थ में कुछ भी भेद नहीं है ॥१८॥

अतः स्वशुद्धचिद्रूपलब्धये तत्त्वविन्मुनि ।
वपुषा मनसा वाचा परद्रव्यं परित्यजेत् ॥१९॥

अर्थ—इसलिये जो मुनिगण भले प्रकार तत्त्वों के जानकार हैं। स्व और पर का भेद पूर्ण रूपसे जानते हैं। वे विशुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिये मन वचन काय से परद्रव्य का सर्वथा त्याग कर देते हैं। उसमें जरा भी ममत्व नहीं करते ॥१९॥

दिक्चेलैको हस्तपात्रो निरीहः साम्यारूढस्तत्त्ववेदी तपस्वी ।
मौनी कर्मौघेभसिंहो विवेकी सिद्ध्यै स्यात्स्वे चित्स्वरूपेऽभिरक्तः ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्धये परद्रव्यत्यागप्रतिपादकः पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

अर्थ—जो मुनि दिगम्बर, पाणिपात्र वाले, समस्त प्रकार की इच्छाओं से रहित, समता के अवलंबी, तत्त्वों के वेत्ता, तपस्वी, मौनी, कर्मरूपी हाथियों के विदारण करने में सिंह, विवेकी और शुद्धचिद्रूप में लीन हैं, वे ही परमात्मपद प्राप्त करते हैं। वे ही ईश्वर कहे जाते हैं। अन्य नहीं ॥२०॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक श्रीज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये पर द्रव्यों के त्याग का प्रतिपादन करने वाला पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

सोलहवां अध्याय ।

सद्बुद्धेः पररंजनाकुलविधित्यागस्य साम्यस्य च,
ग्रंथार्थग्रहणस्य मानसवचोरोधस्य बाधाहतेः ।
रागादित्यजनस्य काव्यजमतेश्चेतोविशुद्धेरपि,
हेतुः स्वोत्थसुखस्य निर्जनमहो ध्यानस्य वा स्थानकम् ॥१॥

अर्थ—उत्तमज्ञान, पर को रंजायमान करने में आकुलता का त्याग, समता, शास्त्रों के अर्थ का ग्रहण, मन और वचन का निरोध, रागद्वेष आदि का त्याग, काव्यों में बुद्धि का लगना, मन की निर्मलता, आत्मिक सुख का लाभ और ध्यान, निर्जन एकांत स्थान के आश्रय करने से ही होता है।

भावार्थ—जबतक उत्तमज्ञान, समता, शास्त्र, ध्यान और उत्तम आत्मिक सुख आदि प्राप्त नहीं होते, तबतक किसी प्रकार से आत्मा को शांति नहीं मिल सकती। और उनकी प्राप्ति एकांत स्थान के आश्रय से होती है; इसलिये

जो मनुष्य उत्तमज्ञान आदि के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे पवित्र और एकांत स्थान का अवश्य आश्रय करें ॥ १ ॥

पार्श्ववर्त्यंगिना नास्ति केनचिन्मे प्रयोजनम् ।
मित्रेण शत्रुणा मध्यवर्त्तिना वा शिवार्थिनः ॥२॥

अर्थ—मैं शिवार्थी हूं। अपनी आत्मा को निराकुलतामय सुख का आस्वाद कराना चाहता हूं; इसलिये मुझे शत्रु, मित्र और मध्यस्थ किसी भी पास में रहनेवाले जीव से कोई प्रयोजन नहीं। अर्थात् पास में रहनेवाले जीव मित्र, शत्रु और मध्यस्थ सब मेरे कल्याण के बाधक हैं ॥२।

इन्दोर्वृद्धौ समुद्रः सरिदमृतजलं वर्द्धते मेघवृष्टे-
र्मोहात्ता कर्मबंधो गद इव पुरुषस्यामभुक्तेरवश्य ।
नानावृत्ताक्षराणामवनिवरतले छन्दसां प्रस्तरश्च,
दु खौघागो विकल्पास्रवरचनकुलं पार्श्ववर्त्यंगिनां हि ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार चद्रमा के संबंध से समुद्र, वर्षा से नदी का जल, मोह के संबंध से कर्मबंध, कच्चे भोजन से पुरुषों के रोग और नाना प्रकार के छंद के अक्षरों से शोभित प्रस्तारों के संबन्ध से छंद उत्पन्न होते हैं। उसी

प्रकार पार्श्ववर्ती जीवों के सम्बन्ध से नाना प्रकार के दुःख और विकल्पमय वचनों का सामना करना पडता है।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र की वृद्धि मे चद्रमा, नदी के जल की बढवारी मे मेघ कर्मबन्ध में मोह, रोग की उत्पत्ति मे अपक्व भोजन, और छन्दो की रचना मे प्रस्तार कारण है। उसी प्रकार पार्श्ववर्ती जीवों का संबंध नाना प्रकार के दुःखो के देने और परिणामों के विकल्पमय करने मे कारण है, इसलिये कल्याण के अभिलाषियों को वह सर्वथा वर्जनीय है ॥३॥

वृद्धिं यात्येधसो वन्हिर्वृद्धो घर्मस्य वा तृषा।
चिंता सगस्य रोगस्य पीडा दुःखादि संगतेः ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की, धूप मे प्यास की, और परिग्रह मे चिंता और रोगसे पीडा की वृद्धि होती है। उसी प्रकार प्राणियों की संगति से दुःख आदि सहन करने पडते हैं ॥४॥

विकल्पः स्याज्जीवे निगडनगजवालजलधि—
प्रदावाग्न्यातापप्रगदहिमताजालसदृशः।
वरं स्थानं छेत्री पविरविकरागस्तिजलदा—

गदज्वालाशस्त्रीसममतिभिद तस्य निजनम् ॥५॥

अर्थ—जीवों के विकल्प बेडी, पर्वत, कीचड, समुद्र, दावाग्नि का सताप, रोग, शीतलता, और जाल के समान होते हैं, इसलिये उनके नाश के लिये छैनी, वज्र, सूर्य, अगस्तनचत्र, मेघ, औषध, अग्नि और छुरी के समान निर्जन स्थान का ही आश्रय करना उचित है।

भावार्थ—जिस प्रकार बेडी के काटने मे छैनी, पर्वत के खड २ करने मे वज्र, कीचड के सुखाने मे सूर्य, समुद्र के जलको शुष्क करने मे अगस्ति ऋषि, वनाग्नि के बुझाने मे मेघ, रोग के नाश करने मे औषध, शीतलता नष्ट करने मे अग्नि, और जाल के काटने मे छुरी कारण है। बिना छैनी आदि के बेडी आदि फद कट नही सकता। उसी प्रकार विकल्पों के नाश करने मे निर्जन स्थान कारण है। निर्जन स्थान का बिना आश्रय किये विकल्प कभी नहीं हट सकते ॥५॥

तपसा बाह्यभूतानां विविक्तशयनासनम्।
महत्तपो गुणोद्भूते रागत्यागस्य हेतुत. ॥६॥

अर्थ—बाह्य तपों मे विविक्त शयनासन (एकान्त स्थान मे सोना और बैठना) तपको महान तप बतलाया है। क्योंकि इसके आराधन करने से आत्मा मे गुणों की प्रगटता होती है। और मोह का नाश होता है।

भावार्थ—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयनासन और कायक्लेश के भेद से

बाह्य तप छह प्रकार का है। परन्तु उन सब म उत्तम और महान तप विविक्त शय्यासन ही है। क्योंकि इसके आराधन करने से आत्मा मे नानाप्रकार के गुणो की प्रकटता और समस्त मोह की नास्ति होती है ॥६॥

काचिच्चिंता सगतिः केनचिच्च रोगादिभ्यो वेदना तीव्रनिद्रा ।
प्रादुर्भूतिः क्रोधमानादिकानां मूर्च्छा ज्ञेया ध्यानविध्वासिनी च ॥७॥

अर्थ— स्त्री पुत्र आदि की चिन्ता, प्राणियो के साथ सगति, रोग आदि से वेदना, तीव्रनिद्रा और क्रोध मान आदि कषायों की उत्पत्ति होना मूर्च्छा है। और इस मूर्छा से ध्यान का सर्वथा नाश होता है।

भावार्थ- स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं, इस प्रकार के परिणाम का नाम मूर्च्छा है, इसलिये इससे मनुष्य को नाना प्रकार की चिंताएँ होती हैं। प्राणियों के साथ सगति, रोग आदि से तीव्रवेदना, अधिक निद्रा और क्रोध मान माया आदि कषायों की उत्पत्ति इनसे ध्यान का नाश होता है ॥ ७ ॥

संगत्यागो निर्जनस्थानक च तत्त्वज्ञान सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्व योगरोधो मुनीनां मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥८॥

अर्थ— बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग, एकातस्थान, तत्त्वो का ज्ञान, समस्त प्रकार की

चिन्ताओं से रहितपना, किसी प्रकार की बाधा का न होना और मन वचन काय का वश करना, ये ध्यान के कारण हैं। और इन्हीं का आश्रय करने से मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥८॥

विकल्पपरिहाराय संग मुञ्चन्ति धीधनाः ।
संगतिं च जनैः सार्द्धं कार्यं किंचित्स्मरन्ति न ॥९॥

अर्थ—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं। स्व और पर के स्वरूप के जानकार होकर अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं। वे संसार के कारण स्वरूप विकल्पों का नाश करने के लिये बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देते हैं। दूसरे मनुष्यों के साथ संगति और किसी कार्य का चिंतवन भी नहीं करते ॥९॥

वृश्चिका युगपत्स्पृष्टाः पीडयन्ति यथाङ्गिनः ।
विकल्पाश्च तथात्मानं तेषु सत्सु कुतः सुखम् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार शरीर पर एक साथ लगे हुए अनेक बिच्छू प्राणी को काटते और दुखित बनाते हैं। उसी प्रकार अनेक प्रकार के विकल्प भी आत्मा को बुरी तरह दुखाते हैं। जरा भी शांति का अनुभव नहीं करने देते, इसलिये उन विकल्पों की मौजूदगी में आत्मा को कैसे सुख हो सकता है। विकल्पों के जाल में फसकर रत्तीभर भी यह जीव सुख का अनुभव नहीं कर सकता ॥१०॥

बाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखम् ।
अंतःसंगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकम् ॥११॥

अर्थ — जब मुझे बाह्य संगति के त्याग से ही परम सुख की प्राप्ति होती है, तब अंतरंग संगति के त्याग से और भी अधिक सुख मिलेगा।

भावार्थ — [illegible] स्त्री पुत्र आदि बाह्य पदार्थों की संगति के त्याग से ही परम सुख प्राप्त होता है, तब [illegible] अंतरंग पदार्थों की संगति के त्याग से तो उससे भी अधिक सुख मिलेगा ॥११॥

बाह्यसंगतिसंगेन सुखं मन्येत मूढधीः ।
तत्त्यागेन सुधीः शुद्धचिद्रूपध्यानहेतुना ॥१२॥

अर्थ — जो [illegible] हैं, [illegible] भेद नहीं जानते। वे बाह्य पदार्थों की संगति से अपने को [illegible] हैं, वे यह जानते हैं कि बाह्य पदार्थों की [illegible] ध्यान हो सकता है। [illegible] ही आत्मा को सुखी मानते हैं ॥१२॥

[illegible]

अध्ययन सध्यान मुमुक्षुमुख्याः पर तप कुर्यु. ॥१३॥

अर्थ—जो पुरुष मुमुक्षुओं मे मुख्य हैं। बहुत जल्दी मोक्ष जाना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि वे अवमौदर्य और विविक्तशय्यासन की सहायता से निष्पक्ष ध्यान के साथ अध्ययन स्वाध्यायरूप परमतप का अवश्य आराधन करें।

भावार्थ—ध्यान और स्वाध्याय तप तभी सिद्ध हो सकते हैं, जब अवमौदर्य (थोडा आहार करना) और विविक्तशय्यासन तपों का विशेष रूपसे आश्रय किया जाय। क्योंकि जो मनुष्य गरिष्ठ व भरपेट भोजन करेगा और जनसमुदाय में रहेगा, वह ध्यान और स्वाध्याय कदापि नहीं कर सकता, इसलिये उत्तम पुरुषों को स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिये आलस्य न दबा बैठे। इस कारण बहुत कम आहार और एकात स्थान का आश्रय करना चाहिये ॥१३॥

ते वद्या गुणिनस्ते च ते धन्यास्ते विदांवराः ।
वसन्ति निर्जने स्थाने ये सदा शुद्धचिद्रतः ॥१४॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूप में अनुरक्त हैं और उसकी प्राप्ति के लिये निर्जन स्थान म निवास करते हैं। ससार म वे ही वदनीय-सत्कार क योग्य, गुणी, धन्य और विद्वानों के शिरोमणि हैं। अर्थात् उत्तम पुरुष उन्हीं का आदर सत्कार करते हैं और जिन्हें वे गुणी धन्य और विद्वानों मे उत्तम मानते हैं ॥१४॥

निर्जनं सुखदं स्थानं ध्यानाध्ययनसाधनम् ।
रागद्वेषविमोहानां शातनं सेवते सुधीः ॥१५॥

अर्थ—यह निर्जन स्थान अनेक प्रकार के सुख प्रदान करनेवाला है। ध्यान और अध्ययन का कारण है। रागद्वेष और मोह का नाश करनेवाला है; इसलिये बुद्धिमान पुरुष अवश्य उसका आश्रय करते हैं ॥१५॥

सुधाया लक्षणं लोका वदंति बहुधा मुधा ।
बाधाजतुजनैर्मुक्तं स्थानमेव सतां सुधा ॥१६॥

अर्थ—लोक सुधा (अमृत) का लक्षण भिन्न ही प्रकार से बतलाते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं, मिथ्या है। क्योंकि जहां पर किसी प्रकार की बाधा, डास मच्छर आदि जीव और जनसमुदाय न हो, ऐसे एकांत स्थान का नाम ही वास्तव में सुधा है।

भावार्थ—जो सुख देनेवाला हो वही सुधा–अमृत है। शुद्धचिद्रूप के अभिलाषियों को समस्त प्रकार के उपद्रवोंसे रहित एकांत स्थान सुख का देनेवाला है; इसलिये उनके लिये वही अमृत है। और लोक की कथित अमृत, अमृत नहीं है ॥१६॥

भूमिगृहे समुद्रादितटे पितृवने वने ।

गुहादौ वसति प्राज्ञः शुद्धचिद्ध्यानसिद्धये ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं। हित अहित के जानकार हैं। व शुद्धचिद्रूप के ध्यान की सिद्धि के लिये जमीन के भीतर घरों में, सुरंगों में, समुद्र नदी आदि के तटों पर, श्मसानभूमियों में और वनगुफा आदि निर्जन स्थानों में निवास करते हैं ॥१७॥

विविक्तस्थानकाभावात् योगिनां जनसंगमः।
तेषामालोकनेनैव वचसा स्मरणेन च ॥१८॥
जायते मनसः स्पंदस्ततो रागादयोऽखिलाः।
तेभ्य क्लेशो भवेत्तस्मान्नाशं याति विशुद्धता ॥१९॥
तया विना न जायेत शुद्धचिद्रूपचिंतनम्।
विना तेन न मुक्तिः स्यात् परमाखिलकर्मणाम् ॥२०॥ चतुःकुल ॥
तस्माद्विविक्तसुस्थानं ज्ञेय संक्लेशनाशनम्।
मुमुक्षुयोगिना मुक्तेः कारण भववारणम् ॥२१॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै निर्जनस्थानाश्रयणप्रतिपादक षोडशोऽध्याय ॥१६॥

अर्थ—एकांत स्थान के अभाव से योगियों को जनों के संघट्ट में रहना पड़ता है; इसलिये उनके देखने, वचन सुनने और स्मरण करने से उनका मन चंचल हो उठता है। मन की चंचलता से विशुद्धि का नाश होता है। और विशुद्धि के बिना शुद्धचिद्रूप का चिंतवन नहीं हो सकता। तथा बिना उसके चिंतवन किये समस्त कर्मों के नाश होने वाला मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता; इसलिये मोक्षाभिलाषी योगियों को चाहिये कि वे एकांत स्थान को समस्त दुःखों का दूर करनेवाला मोक्ष का कारण और संसार का नाश करनेवाला जान अवश्य उसका आश्रय करें ॥ १८-२१ ॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक श्रीज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में 'शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये निर्जनस्थान के आश्रय का बतलानेवाला सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सत्रहवां अध्याय।

[illegible]भारसम्भवसानरुग्भूरुहां-
[illegible] खेचरविदुषां पत्ताम्बुगानामपि।

प्रायः सति परीक्षका भुवि सुखस्यात्यल्पका हा यतो,
दृश्यन्ते स्वभवे रताश्च वहव. सौख्ये च नातींद्रिये ॥१॥

अर्थ—ससार मे मोती, मूगा, रत्न, धातु, रस, पृथ्वी, वस्त्र अन्न, रोग, वृक्ष स्त्री, हाथी, घोडे, सर्प, गाय, मनुष्य, देव, विद्वान, पक्षी और जलचर जीवों की परीक्षा करनेवाले अनेक मनुष्य हैं। इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ऐन्द्रियिक सुख म भी वहुत से अनुरक्त हैं। परन्तु निराकुलतामय सुख की परीक्षा और उसम अनुराग करनेवाले बहुत ही थोडे हैं।

भावार्थ—इस ससार म परीक्षा करनेवाले विद्वान पुरुषों की और सुख के अनुभव करने वालों की कमी नही है। परन्तु वे यह नहीं समझते कि हमे किस बात की परीक्षा और कैसे सुख का अनुभव करना चाहिये ? वहुत से मनुष्य मोती मूगा रत्न सुवर्ण आदि धातु उत्तमोत्तम रस पृथ्वी रोग हाथी अश्व आदि पदार्थों की परीक्षा मे प्रवीण हैं। इन्द्रियजन्य सुखों का भी पूर्णतया अनुभव करना जानते हैं। परन्तु उनकी उस प्रकार की परीक्षा और अनुभव कार्यकारी नहीं। क्योंकि ये सब पदार्थ अनित्य हैं। नित्य पदार्थ निराकुलतामय सुख है, इसलिये उसीकी परीक्षा और अनुभव से कार्य और कल्याण होसकता है ॥१॥

निर्द्रव्य स्ववश निजस्थमभय, नित्य निरीह शुभ—

निर्द्वन्द्व निरुपद्रवं निरुपमं, निर्बंधमूहातिगम् ।
उत्कृष्ट शिवहेत्वदोषममलं यद्दुर्लभ केवल-
स्वात्मोत्थ सुखमीदृश च स्वभव, तस्माद्विरुद्धं भवेत् ॥२॥

अर्थ—यह आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख निर्द्रव्य है-परद्रव्यों के सपर्क से रहित हैं। स्वाधीन, आत्मीय, भयों से रहित, नित्य, समस्त प्रकार की इच्छाओ से रहित, शुभ, निर्द्वन्द्व सब प्रकार के उपद्रवोंसे रहित, अनुपम, कर्मबंधों से रहित, तर्क वितर्क के अगोचर, उत्कृष्ट कल्याणों का करने वाला, निर्दोष, निर्मल और दुर्लभ है। परन्तु इन्द्रियजन्य सुख सर्वथा इसके विरुद्ध है। वह परद्रव्यों के संबंध से होता है। पराधीन, पर, नाना प्रकार के भयों का करने वाला, विनाशीक, अनेक प्रकार की इच्छा उत्पन्न करने वाला, अशुभ, आकुलतामय, अनेक प्रकार के उपद्रवों को खड़ा करनेवाला, महानिंदनीय, कर्मबंध का कारण, महानिकृष्ट, दुःख देनेवाला, अनेक प्रकार के दोष और मलों का भंडार और सुलभ है, इसलिये सुखाभिलाषी जीवों को चाहिये कि निराकुलतामय सुख की प्राप्ति का उपाय करें ॥२॥

वैराग्यं त्रिविधं निधाय हृदये, हित्वा च संगं त्रिधा,
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं, धृत्वा च रत्नत्रयम् ।

त्यक्त्वान्यैः सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके,
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने, स्वात्मोत्थसौख्याप्तये ॥३॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मीय शांतिमय सुख के अभिलाषी हैं, उस सुखको हस्तगत करना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि वे संसार शरीर और भोगों का त्यागरूप तीन प्रकार का वैराग्य धारण कर चेतन, अचेतन और मिश्र तीनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रंथ गुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय का आश्रय कर, दूसरे जीवों का सहवास और रागद्वेष आदि का सर्वथा त्याग कर सब उपद्रवों से रहित एकांत स्थान में निवास करें।

भावार्थ—जबतक संसार शरीर और भोगों से ममत्व न हटेगा। सुवर्ण-रत्न, क्रोध मान, और स्त्री पुत्र, दासी-दास आदि परिग्रह का त्याग न होगा, श्रेष्ठ गुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन न किया जायगा। अन्य मनुष्यों का सहवास और राग आदि दूर न कर दिये जायगे, और एकांत स्थान में निवास न किया जायगा, तबतक निराकुलतामय सुख प्राप्त होना सर्वथा असंभव है; इसलिये जो मनुष्य इस सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिये कि वे उपर्युक्त बातों पर अवश्य ध्यान दें ॥३॥

स्वसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः।

सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥४॥

अर्थ— इंद्रिय जन्य सुख, सुख नहीं है। किन्तु मनुष्यों की अभिलाषाजन्य वेदनाओं का नष्ट करने वाला सुख है। और वह सुख निराकुलरूप से और शुद्ध परिणाम से जो अपने चिदानंदस्वरूप आत्मा में स्थिति का होना है, वह है।

भावार्थ—जिस सुख से हमारी अभिलाषा और वेदनाएँ नष्ट हो, वही वास्तव में सुख है। इंद्रिय जन्य सुख, सुख नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह परिणाम में दुख देनेवाला है। और अभिलाषा तथा वेदनाओं का उत्पादक है। इसलिये उस अनुपम सुख को प्राप्त करने के लिये निराकुलता और विशुद्ध परिणामों से अपनी आत्मा में स्थिति करनी चाहिये ॥४॥

नो द्रव्यात्कीर्तितः स्याच्छुभखविषयतः सौधतूर्यत्रिकाद्वा,
रूपादिष्टागमाद्वा तदितरविगमात् क्रीडनाद्यादृतुभ्य ।
राज्यात्संराजमानात् बलवसनसुतात्सकलत्रात्सुगीताद्-
भूपाद् भूजागयानादिह जगति सुखं तात्त्विकं व्याकुलत्वात् ॥५॥

अर्थ—यह निराकुलतामय तात्त्विकसुख, न द्रव्य से प्राप्त हो सकता है, न कीर्ति, इन्द्रियों के शुभ

विषय, उत्तम महल और गाजे बाजों से मिल सकता है। उत्तमरूप, इष्ट पदार्थों का समागम, अनिष्टों का वियोग और उत्तमोत्तम क्रीडा आदि भी इसे प्राप्त नहीं करा सकते। छह ऋतु, राज्य, राजा की ओर से सन्मान, सेना, उत्तमवस्त्र, पुत्र, मनोहारिणी स्त्री, कर्णप्रिय गायन, भूषण, एक वृक्ष, पर्वत और सवारी आदि से भी प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि द्रव्य आदि के सम्बन्ध से चित्त व्याकुल रहता है। और चित्त की व्याकुलता, निराकुलतामय सुख को रोकने वाली होती है।

भावार्थ—चाहे मनुष्य कैसा भी द्रव्यपात्र क्यों न हो जाय। कीर्ति, इन्द्रियों के विषय, महल, रूप, राज्य आदि पदार्थ भी उसके क्यों न यथेष्ट हो जाय, परन्तु उनसे वह निराकुलतामय सुख का अनुभव नहीं कर सकता। सदा उसके परिणाम द्रव्य कीर्ति आदि पदार्थों के जुटाने में ही व्यग्र रहते हैं ॥५॥

पुरे ग्रामेऽटव्या नगशिरसि नदीशादिसुतटे,
मठे दर्यां चैत्यौकसि सदसि रथादौ च भवने।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने,
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥६॥

अर्थ—जो मनुष्य मोह से मूढ और परसमय में रत हैं–पर पदार्थों को अपनाने वाले हैं–वे चाहे पुर,

पर्वत के अग्रभाग, समुद्र, नदी आदि के तट, मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामंडप और तंबू आदि स्थानों मे किसी स्थान पर निवास करें, उन्हें निराकुलतामय सुख का वश तक प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् मोह और परद्रव्यों का प्रेम निराकुलतामय सुख का बाधक है ॥६॥

निर्गोते गूथकीटे पशुनृपतिगणे भारवाहे किराते,
सरोगे मुक्तरोगे धनवति विधने वाहनस्थे च पद्भ्यां।
युवादो बालवृद्धे भवति हि खसुखं तेन किं यत् कदाचित्,
सदा वा सर्वदैवतदपि किल यतस्तन्न चाप्राप्तपूर्वम् ॥७॥

अर्थ—निगोदिया जीव, विष्टा का कीड़ा, पशु, राजा, भार वहन करनेवाले, भील, रोगी नीरोगी, धनवान, निर्धन, सवारी पर घूमनेवाले, पैदल चलनेवाले, युवा, बालक, वृद्ध और देवों में जो इन्द्रियों से उत्पन्न सुख ... या सदा देखने में आता है। उससे क्या प्रयोजन? अथवा वह सर्वदा ही बना रहे, तब भी क्या प्रयोजन? ... है। अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न सुख ... पहिले कभी नहीं प्राप्त हुआ, ऐसा निराकुलतामय सुख नहीं है। अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न सुख ... और सुलभरूप मे कहीं न कहीं कुछ न कुछ अवश्य मिल जाता है। परन्तु निराकुलतामय सुख ... है और आत्मा को बिना विशुद्ध किये कभी प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये इन्द्रियसुख कैसा भी

क्यों न हो, वह कभी निराकुलतामय सुख की तुलना नहीं कर सकता ॥७॥

ज्ञेयावलोकन ज्ञान सिद्धानां भविनां भवेत् ।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकम् ॥८॥

अर्थ—पदार्थों का देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान) सिद्ध और संसारी दोनों के होता है। परन्तु सिद्धों के वह निर्विकल्प-आकुलतारहित और संसारी जीवों के सविकल्प-आकुलता सहित होता है ॥८॥

व्याकुलः सविकल्पः स्यान्निर्विकल्पो निराकुलः ।
कर्मबंधोऽसुखं चाद्ये कर्माभावः सुखं परे ॥९॥

अर्थ—जिस ज्ञान की मौजूदगी में आकुलता हो, वह ज्ञान सविकल्प और जिसमें आकुलता न हो, वह ज्ञान निर्विकल्प कहा जाता है। उनमें सविकल्प ज्ञान के होने पर कर्मों का बंध और दुःख भोगना पड़ता है और निर्विकल्पक ज्ञान के होने पर कर्मों का अभाव और परमसुख प्राप्त होता है।

भावार्थ—मनःपर्ययज्ञान और अवधिदर्शन तक जितने ज्ञान और दर्शन हैं, सब सविकल्प हैं। उनकी विद्यमानता में कुछ न कुछ आत्मा में विकल्प हुआ ही करते हैं। और विकल्पों से कर्मबंध एवं दुःख, भोगने पड़ते हैं। परन्तु जिस समय केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप निर्विकल्पक दर्शन ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं। उस समय

समस्त विकल्प शांत हो जाते हैं। कर्मों का नाश और निराकुलतामय सुख भी प्राप्त हो जाता है ॥९॥

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥१०॥

अर्थ—आकुलता के भंडार इस सविकल्प सुख का मैंने बहुत बार अनुभव किया है। जिस गति के अन्दर गया हूं, वहां मुझे सविकल्प ही सुख प्राप्त हुआ है। इसलिये वह मेरे लिये अपूर्व नहीं है। परन्तु निराकुलतामय निर्विकल्प सुख मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये उसी की प्राप्ति के लिये मेरी अत्यन्त इच्छा है। वह कब मिले, इस आशा से सदा मेरा चित्त भटकता फिरता है ॥१०॥

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमगिनः।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥११॥

अर्थ—रागी द्वेषी और मोही चित्त से जो पदार्थों का ज्ञान किया जाता है, वह दुःखरूप है। उस ज्ञान से जीवों को दुःख भोगना पड़ता है। और वीतराग-वीतद्वेष और वीतमोह चित्त से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह सुख स्वरूप है। उस ज्ञान से सुख की प्राप्ति होती है ॥११॥

रवेः सुधायाः सुरपादपस्य चिंतामणेरुत्तमकामधेनोः।

दिवो विदग्धस्य हरेरखर्वं गर्वं हरन् भो विजयी चिदात्मा ॥१२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह चिदात्मा, सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिंतामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णु के भी अखंड गर्व को देखते देखते चूर करनेवाला है और विजय शील है।

भावार्थ—यह चिदात्मा दीप्ति मे सूर्य से भी चढ़बढ़ कर है। महादीप्तिवान है। आनन्द प्रदान करने मे अमृत को भी जीतनेवाला है। कल्पवृक्ष चिन्तामणि और कामधेनु से भी अधिक इच्छाओं का पूर्ण करनेवाला है। स्वर्ग से भी अधिक सुख देनेवाला, अपनी विद्या से विद्वान की विद्वत्ता को जीतनेवाला और विष्णु से अधिक अखड प्रताप का भडार है ॥१२॥

चितादु.ख सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांति जांयते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥१३॥

अर्थ—जिस अचल शाति से संसार मे यह मालूम होता है कि यह चिन्ता है। यह दु ख है। यह सुख और शाति है। वह (शाति) इसी शुद्धचिद्रूप में लीनता प्राप्त करने से होती है। बिना 'शुद्धचिद्रूप मे लीनता प्राप्त किये चिता दु ख आदि के अभाव के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता ॥१३॥

मुच सर्वाणि कार्याणि संग चान्यैश्च संगतिम् ।

भो भव्य शुद्धचिद्रूपलये वाञ्छास्ति ते यदि ॥१४॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू शुद्धचिद्रूप में लीन होकर जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, तो तू सांसारिक समस्त कार्य, बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह और दूसरों का सहवास सर्वथा छोड़ दे ॥१४॥

मुक्ते बाह्ये परद्रव्ये स्यात्सुखं चेच्चितो महत् ।
साम्प्रतं किं तदादोऽन्तः कर्मादौ न महत्तरम् ॥१५॥

अर्थ—जब बाह्य परद्रव्य से रहित हो जाने पर आत्मा को महान् सुख मिलता है। तब क्या कर्म आदि के नाश हो जाने पर उससे भी अधिक महान् सुख प्राप्त न होगा ? ॥१५॥

इन्द्रियैश्च पदार्थानां स्वरूपं जानतोऽगिनः ।
यो रागस्तत्सुखं द्वेषस्तद्दुःखं भ्रांतिजं भवेत् ॥१६॥

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखम् ॥१७॥

अर्थ—इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के स्वरूप जाननेवाले इस जीव को जो उनमें राग होता है, वह सुख और द्वेष होता है, वह दुःख है, यह मानना नितांत भ्रम है, किन्तु जो पुरुष राग और द्वेष आदि से रहित है। समस्त

पदार्थों का जानकार है। उसके जो समस्त प्रकार की आकुलता का त्याग है–निराकुलता है, वही वास्तविक सुख है।

भावार्थ – यह जीव स्त्री पुत्र आदि परपदार्थों में कुछ राग होने से सुख और उनमें द्वेष हो जाने से दुख मानता है। परन्तु वास्तव में ये दोनों ही (राग द्वेष) दुःख स्वरूप हैं। क्योंकि उनमें जीव के परिणाम आकुलतामय रहते हैं। किन्तु जहां पर आकुलता न हो, वही वास्तविक सुख है। और वह सुख राग द्वेष आदि से रहित समस्त पदार्थों के जाननेवाले महान पुरुष के ही होता है ॥१६॥१७॥

इन्द्राणां सार्वभौमानां सर्वेषां भावनेशिनाम् ।
विकल्पसाधनैः स्वार्थैर्व्याकुलत्वात्सुखं कुतः ॥१८॥
तात्त्विकं च सुखं तेषां ये मन्यन्ते ब्रुवन्ति च ।
एवं तेषामहं मन्ये महती भ्रान्तिरुद्धता ॥१९॥

अर्थ – इन्द्र, चक्रवर्ती और भवनवासी देवों के स्वामियों के जितने स्वार्थ इन्द्रियों के विषय होते हैं, वे विकल्पों से होते हैं। अपने अर्थों के सिद्ध करने में उन्हें नाना प्रकार के विकल्प करने पड़ते हैं। और उन विकल्पों से चित्त सदा आकुलतामय रहता है, इसलिये सुख नाम का पदार्थ–वास्तविक सुख उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता।

परन्तु जो पुरुष उनके सुख को वास्तविक सुख समझते हैं और उस सुख की वास्तविक सुख मे गणना करते हैं। मैं (ग्रन्थकार) समझता हूँ, उनकी यह बड़ी भारी भूल है। वह सुख कभी वास्तविक सुख नहीं हो सकता ॥१८-१९॥

विमुच्य रागादि निजं तु निर्जने पदे स्थितानां सुखमत्र योगिनाम् ।
विवेकिनां शुद्धचिदात्मचेतसां विदां यथास्यान्न हि कस्यचित्तथा ॥२०॥

अर्थ—इसलिये जो योगिगण बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर निरुपद्रव एकांत स्थान में निवास करते हैं। विवेकी हित अहित के जानकार हैं। शुद्धचिद्रूप में रक्त हैं। और विद्वान हैं। उन्हें यह निराकुलतामय सुख प्राप्त होता है। उनसे अन्य किसी भी मनुष्य को नहीं ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै सुखस्वरूपप्रतिपादक सप्तदशोऽध्याय. ॥१७॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक श्रीज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में 'शुद्धचिद्रूप में प्रेम बढ़े' इस कारण वास्तविक सुख का प्रतिपादन करनेवाला सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अठारहवां अध्याय ।

श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा ग्रहणमपि दृढं चेतसा यो विधाय,
कृत्वांतःस्थैर्यबुद्ध्या परमनुभवनं तल्लयं याति योगी ।
तस्य स्यात् कर्मनाशस्तदनु शिवपदं च क्रमेणेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं हि सौख्यं स्वभवमिह सदासन्नभव्यस्य नूनम् ॥१॥

अर्थ—जो योगी "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा भले प्रकार श्रवण और श्रद्धान कर वचन और मन से उसे ही दृढ़ रूपसे धारण कर, अन्तरंग को स्थिर कर, और परपदार्थों को जानकर उसका (शुद्धचिद्रूप का) अनुभव और उसमें अनुराग करता है। वह आसन्न भव्य बहुत जल्दी मोक्ष जानेवाला योगी, क्रम से समस्त कर्मों का नाशकर अतिशय निशुद्ध मोक्षमार्ग और निराकुलतामय आत्मिक सुख का लाभ करता है।

भावार्थ—मैं 'शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा बिना श्रद्धान और ज्ञान किये शुद्धचिद्रूप में अनुराग नहीं हो सकता। अनुराग के बिना उसका अनुभव, अनुभव न करने से कर्मों का नाश, कर्मों का नाश न होने से मोक्ष की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति न होने से शांतिमय सुख कदापि नहीं मिल सकता ॥१॥

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने ।
व्रतांगीकरणे पश्चात्संयमग्रहणे ततः ॥२॥
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं संयमपालने ।
चिद्रूपचिंतने पश्चादयमुक्तो बुधैः क्रमः ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य गृहस्थ हैं, उन्हें सबसे पहिले देवपूजा, गुरुउपासना आदि छह आवश्यक कर्मों के पालने की पश्चात व्रतों के धारण करने की और फिर संयम ग्रहण करने की शिक्षा देनी चाहिये। परन्तु जो यति हैं-निग्रन्थ रूप धारण कर वनवासी हो गये हैं-उन्हें सबसे पहिले संयम पालने की और पीछे शुद्धचिद्रूप के ध्यान करने की शिक्षा देनी चाहिये ॥२॥३॥

संसारभीतितः पूर्वं रुचिमुक्तिसुखे दृढा ।
जायते यदि तत्प्राप्तेरुपायः सुगमोस्ति तत् ॥४॥

अर्थ— जिन मनुष्यों की संसार के भय से पहिले ही मोक्ष सुख की प्राप्ति में रुचि दृढ़ है। जल्दी संसार के दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं। समझ लेना चाहिये उन्हें मुक्ति की प्राप्ति का सुगम उपाय मिल गया। वे बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थ—जबतक मोक्ष पाने की हृदय में कामना नहीं होती–मोक्ष सुख के अनुभव करने में प्रेम नहीं होता, तबतक कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और उसमें प्रेम करने से तो वह शीघ्र ही मिल जाता है। तथा जिनकी रुचि संसार से भयभीत होने के बाद मुक्ति सुख में होती है। यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं। परन्तु जो संसार के भय से पहिले ही मोक्ष सुख में प्रेम करने वाले हैं, वे सुगमता से बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं। अधिक काल तक उन्हें संसार में नहीं भटकना पड़ता ॥४॥

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखम् ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥५॥

अर्थ—जो योगी निर्विकल्प हैं। समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित हैं। और शुद्धचिद्रूप में लीन हैं। उन्हें एक साथ समस्त कर्मों का नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप में लीनता होने से एक साथ समस्त कर्मों का नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है; इसलिये योगियों को चाहिये कि समस्त प्रकार के विकल्पों को छोड़ कर शुद्धचिद्रूप में ही अनुराग करें ॥५॥

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥६॥

ध्यानञ्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः ।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥७॥ युग्मम् ॥

अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, प्रत्याहार और समाधि ये आठ अंग योग के हैं—इन्हीं के द्वारा योग की सिद्धि होती है। इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं। समस्त कर्मों से अपनी आत्मा को मुक्त करना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि शास्त्र से इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ॥६॥७॥

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोहमिति स्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥८॥

अर्थ—यह आत्मा "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा स्मरण करते ही जब भावमुक्त हो जाता है। तब वह क्रम से द्रव्यमुक्त तो अवश्य ही होगा।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप के अन्दर जब इतनी सामर्थ्य है कि वह स्मरण करने मात्र से ही भाव संसार से छुटाकर भावमोक्ष प्राप्त कराता है। तब वह परद्रव्य संसार का संबंध तो इस आत्मा से अवश्य ही दूर कर देगा। शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने से कभी द्रव्य और भाव संसार का संबंध नहीं रह सकता ॥८॥

भावार्थ—जबतक मोक्ष पाने की हृदय में कामना नहीं होती—मोक्ष सुख के अनुभव करने में प्रेम नहीं होता, तबतक कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और उसमें प्रेम करने से तो वह शीघ्र ही मिल जाता है। तथा जिनकी रुचि संसार से भयभीत होने के बाद मुक्ति सुख में होती है। यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं। परन्तु जो संसार के भय से पहिले ही मोक्ष सुख में प्रेम करने वाले हैं, वे सुगमता से बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं। अधिक काल तक उन्हें संसार में नहीं भटकना पड़ता ॥४॥

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखम्।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥५॥

अर्थ—जो योगी निर्विकल्प हैं। समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित हैं। और शुद्धचिद्रूप में लीन हैं। उन्हें एक साथ समस्त कर्मों का नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप में लीनता होने से एक साथ समस्त कर्मों का नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है; इसलिये योगियों को चाहिये कि समस्त प्रकार के विकल्पों को छोड़ कर शुद्धचिद्रूप में ही अनुराग करें ॥५॥

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनम्।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥६॥

ध्यानञ्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः ।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥७॥ युग्मम् ॥

अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, प्रत्याहार और समाधि ये आठ अंग योग के हैं—इन्हीं के द्वारा योग की सिद्धि होती है। इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं। समस्त कर्मों से अपनी आत्मा को मुक्त करना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि शास्त्र से इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ॥६॥७॥

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोहमिति स्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥८॥

अर्थ—यह आत्मा "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा स्मरण करते ही जब भावमुक्त हो जाता है। तब वह क्रम से द्रव्यमुक्त तो अवश्य ही होगा।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप के अन्दर जब इतनी सामर्थ्य है कि वह स्मरण करने मात्र से ही भाव संसार से छुटाकर भावमोक्ष प्राप्त कराता है। तब वह द्रव्य संसार का संबंध तो इस आत्मा से अवश्य ही दूर कर देगा। [illegible]द्रूप के स्मरण करने से कभी द्रव्य और भाव संसार का संबंध नहीं रह सकता ॥८॥

भावार्थ—जबतक मोक्ष पाने की हृदय में कामना नहीं होती–मोक्ष सुख के अनुभव करने में प्रेम नहीं होता, तबतक कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और उसमें प्रेम करने से तो वह शीघ्र ही मिल जाता है। तथा जिनकी रुचि संसार से भयभीत होने के बाद मुक्ति सुख में होती है। यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं। परन्तु जो संसार के भय से पहिले ही मोक्ष सुख में प्रेम करने वाले हैं, वे सुगमता से बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं। अधिक काल तक उन्हें संसार में नहीं भटकना पड़ता ॥४॥

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखम् ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥५॥

अर्थ—जो योगी निर्विकल्प है, समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित है। और शुद्धचिद्रूप में लीन है। उन्हें एक साथ समस्त कर्मों का नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप में लीनता होने से एक साथ समस्त कर्मों का नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है; इसलिये योगियों को चाहिये कि समस्त प्रकार के विकल्पों को छोड़ कर शुद्धचिद्रूप में ही अनुराग करें ॥५॥

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥६॥

ध्यानञ्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः ।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥७॥ युग्मम् ॥

अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, प्रत्याहार और समाधि ये आठ अंग योग के हैं–इन्हीं के द्वारा योग की सिद्धि होती है। इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं। समस्त कर्मों से अपनी आत्मा को मुक्त करना चाहते हैं। उन्हें चाहिये कि शास्त्र से इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ॥६॥७॥

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥८॥

अर्थ—यह आत्मा "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा स्मरण करते ही जब भावमुक्त हो जाता है। तब वह क्रम से द्रव्यमुक्त तो अवश्य ही होगा।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूप के अन्दर जब इतनी सामर्थ्य है कि वह स्मरण करने मात्र से ही भाव संसार से छुटाकर भावमोक्ष प्राप्त कराता है। तब वह परद्रव्य संसार का संबंध तो इस आत्मा से अवश्य ही दूर कर देगा। शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने से कभी द्रव्य और भाव संसार का संबंध नहीं रह सकता ॥८॥

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचिंतया ।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतैव न संशयः ॥९॥

अर्थ—यदि शुद्धचिद्रूप का चिंतवन किया जायगा, तो प्रतिक्षण कर्मों की निर्जरा होती चली जायगी। और यदि परपदार्थों का चिंतवन होगा, तो प्रति समय कर्म बंध होता रहेगा। इसमें कोई संदेह नहीं ॥९॥

सयोगक्षीणमिश्रेषु गुणस्थानेषु नो मृतिः ।
अन्यत्र मरणं प्रोक्तं शेषत्रिक्षपकैं विना ॥१०॥

अर्थ—सयोग केवली, क्षीणमोह, मिश्र तथा आठवें नवमें और दशवें गुणस्थान की क्षपक श्रेणी में मरण नहीं होता। परन्तु इनसे भिन्न गुणस्थानों में मरण होता है ॥१०॥

मिथ्यात्वेऽविरते मृत्या जीवा यान्ति चतुर्गतीः ।
सासादने विना श्वभ्रं तिर्यगादिगतित्रयम् ॥११॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यात्व और अविरत सम्यग्दृष्टि (जिसने सम्यक्त्व होने के पहिले आयुबंध कर लिया हो) गुणस्थानों में मरते हैं, वे मनुष्य तिर्यंच, देव, नारक चारों गतियों में जन्म लेते हैं। और सासादन गुणस्थान में मरनेवाले नरकगति में न जाकर शेष तिर्यंच आदि तीनों गतियों में जाते हैं ॥११॥

अयोगे मरणं कृत्वा भव्या यान्ति शिवालयम् ।
मृत्वा देवगतिं यान्ति शेषेषु सप्तसु ध्रुवम् ॥१२॥

अर्थ—अयोग केवली-चौदहवें गुणस्थान से मरने वाले जीव मोक्ष जाते हैं। और शेष सात गुणस्थानों से मरनेवाले देव होते हैं ॥१२॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कृत्वा यान्त्यधुना दिवम् ।
तत्रेन्द्रियसुखं भुक्त्वा श्रुत्वा वाणीं जिनागताम् ॥१३॥
जिनालयेषु सर्वेषु गत्वा कृत्वार्चनादिकम् ।
ततो लब्ध्वा नरत्वं च रत्नत्रयविभूषणम् ॥१४॥
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानबलात्कृत्वा विधिक्षयम ।
सिद्धस्थानं परिप्राप्य त्रैलोक्यशिखरे क्षणात् ॥१५॥
साक्षाच्च शुद्धचिद्रूपा भूत्वात्यंतनिराकुलाः ।
तिष्ठन्त्यनन्तकालं ते गुणाष्टकसमन्विताः ॥१६॥

अर्थ—इस समय भी जो जीव शुद्धचिद्रूप के ध्यान करने वाले हैं। वे मरकर स्वर्ग जाते हैं। और वहां भले प्रकार इन्द्रियजन्य सुखों को भोगकर भगवान जिनेन्द्र के मुख से जिनवाणी श्रवण कर समस्त जिन मंदिरों में जा और उनकी पूजन आदि कर मनुष्य भव और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र को प्राप्तकर, शुद्धचिद्रूप के ध्यान से समस्त कर्मों का क्षयकर सिद्धस्थान को प्राप्त होकर तीन लोक के शिखर पर जा विराजते हैं। तथा वहां पर साक्षात् शुद्धचिद्रूप होकर अत्यन्त निराकुल और केवलदर्शन केवलज्ञान अव्याबाध सुख आदि आठों गुणों से भूषित हो अनंत काल पर्यंत निवास करते हैं ॥१३॥१६॥

क्रमतः क्रमतो याति कीटिका शुकवत्फलम्।
नगस्थं स्वस्थितं ना च शुद्धचिद्रूपचिंतनम् ॥१७॥

अर्थ—जिस प्रकार कीडी क्रम २ से धीरे धीरे वृक्ष के ऊपर चढ़कर शुक के समान फलका आस्वादन करती है। उसी प्रकार यह मनुष्य भी क्रम क्रम से शुद्धचिद्रूप का चिंतवन करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कीड़ी एकदम तोते के समान फल के पास जाकर उसका आस्वादन नहीं कर सकती। किन्तु पृथ्वी से वृक्ष के मूलभाग पर चढ़कर धीरे धीरे फल के पास पहुंचती है और पीछे उसके रसका स्वाद लेती है। उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप का चिंतवन भी कोई मनुष्य एक साथ नहीं कर सकता। किन्तु क्रम क्रम से परद्रव्यों से अपनी ममता दूर करता हुआ उसका चिंतवन कर सकता है ॥१७॥

गुर्वादीनां च वाक्यानि श्रुत्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
कृत्वाभ्यासं यदा याति तद्धि ध्यानं क्रमागतम् ॥१८॥
जिनेशागमनिर्यासमात्रं श्रुत्वा गुरोर्वचः ।
विनाभ्यासं यदा याति तद्ध्यान चाक्रमागतम् ॥१९॥

अर्थ—जो पुरुष गुरु आदि के वचनों को भले प्रकार श्रवणकर और शास्त्रों का भले प्रकार अभ्यास कर शुद्धचिद्रूप का चिंतवन करता है। उसके क्रम से शुद्धचिद्रूप का चिन्तवन ध्यान कहा जाता है। किन्तु जो पुरुष भगवान जिनेन्द्र के शास्त्रों के तात्पर्य मात्र को बतलाने वाले गुरु के वचनों को श्रवण कर अभ्यास नहीं करता-वारवार शास्त्रों का मनन चिंतवन नहीं करता। उसके जो शुद्ध चिद्रूप का ध्यान होता है, वह क्रम से नहीं होता ॥१८॥१९॥

न लाभमानकीर्त्यर्थां कृता कृतिरियं मया ।
किंतु मे शुद्धचिद्रूपे प्रीतिः सैवात्र कारणम् ॥२०॥

अर्थ—अंत मे ग्रंथकार ग्रन्थ के निर्माण का कारण बतलाते हैं, कि यह जो मैंने ग्रन्थ बनाया है। वह किसी प्रकार के लाभ मान व कीर्ति की इच्छा से नहीं बनाया। परंच शुद्धचिद्रूप में मेरा गाढ़ा प्रेम है। इसी कारण इसका निर्माण किया है ॥२०॥

जात श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेऽग्रणी-
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत् ।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रतः,
तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ॥२१॥

अर्थ—मूल संघ के आचार्यों मे अग्रणी-सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकलकीर्ति हुए। उनके पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य के समान भव्यरूपी कमलों को आनंद प्रदान करने वाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनकीर्ति हुए। उन्हीं के चरण कमलों का भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हूं। जिसने कि इस तत्त्वज्ञान तरंगिणी ग्रन्थ का निर्माण किया है ॥२१॥

क्रीडति ये प्रविश्येमां तत्त्वज्ञानतरंगिणीम् ।
ते स्वर्गादिसुखं प्राप्य सिद्ध्यन्ति तदनन्तरम् ॥२२॥

अर्थ – जो महानुभाव इस तत्त्वज्ञानतरंगिणी तत्त्वज्ञानरूपी नदी में प्रवेशकर क्रीड़ा अवगाहन करेंगे । वे स्वर्ग आदि के सुखों को भोगकर मोक्ष सुख को प्राप्त होंगे । स्वर्ग सुख भोगने के बाद उन्हें अवश्य मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी ॥२२॥

यदैव विक्रमातीताः शतपंचदशाधिकाः ।
षष्टिःसंवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥२३॥

अर्थ—जिस समय विक्रम संवत् के पंद्रह सौ साठ वर्ष (शक संवत् के चौदह सौ पच्चीस अथवा खीष्ट संवत् के पंद्रह सौ तीन वर्ष) बीत चुके थे । उस समय इस तत्त्वज्ञानतरंगिणी रूपी कृति का निर्माण किया गया ॥२३॥

ग्रथसंख्यात्र विज्ञेया लेखकैः पाठकैः किल ।
षट्त्रिंशदाधिका पंचशती श्रोतृजनैरपि ॥२४॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तिक्रमप्रतिपादक अष्टादशोऽध्याय ॥१८॥

अर्थ—इस ग्रन्थ की सब श्लोक संख्या पांचसौ छत्तीस है, ऐसा लेखक पाठक और श्रोताओं को समझ लेना चाहिये। अर्थात् यह ग्रन्थ पांचसौ छत्तीस श्लोकों में समाप्त हुआ है ॥२४।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक श्रीज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणी में शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के क्रम का प्रतिपादन करनेवाला अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

॥ इति तत्त्वज्ञानतरंगिणी सम्पूर्ण ॥